सद्ज्ञान ग्रन्थमाला का ९० वां पुष्प—

दैवी सम्पदाएँ

(अर्थात् मानव-धर्म-शास्त्र)

(Divine Gifts of Man)

(भक्ति तथा सद्ज्ञान के पथ पर आरूढ़ भगवत्-प्राप्ति की शुभेच्छा से प्रेरित कर्म मार्गियों के लिए मानव आचार शास्त्र का दिव्य सन्देश)

लेखक—
प्रोफेसर श्री रामचरणजी महेन्द्र एम० ए०,
हरबर्ट कालिज, कोटा

प्रकाशक—
"अखण्ड-ज्योति" कार्यालय, मथुरा ।

प्रथमावृत्ति] सन् १९३९ ई० [मूल्य ।=)

मानव दानव क्यों ?

न्याय एवं सत्य की प्रतिष्ठा के नाम पर लड़े जाने वाले युद्धों से पीड़ित विशाल जन समुदाय चिल्ला चिल्ला कर आर्तनाद कर रहा है–"मानव दानव क्यों" जिन अधम कृत्यों को पशु भी नहीं करते उन्हें देव गुण सम्पन्न मनुष्य क्यों कर रहा है ? वह क्यों रक्तपात, नरसंहार के नए नए साधन खोजने में संलग्न है ? वह क्यों कृत्रिमता में, बनावट में, छल-छन्द में फँस गया है ? उसने अपने आचार विचार क्यों दम्भिकता के दुर्ग बना डाले हैं ? क्यों सामाजिक संस्थाओं में संकीर्णता, स्वार्थपटल पदलोलुपता अधमता का समावेश कर लिया है ? वह क्यों हैवानों से भी आगे बढ़ रहा है ?

इसका कारण यही है कि आज के मनुष्य में 'मानवता' जैसी दैवी विभूति नहीं रह गई है। उसने इन्सानियत आद-मियता, मनुष्यत्व को विस्मृत कर दिया है । 'मनुष्य' बनना है भी कठिन, किन्तु यह निश्चय है कि यदि आदमी, केवल नाम मात्र का 'आदमी' न रह कर सच्चा मानव बन जाय, तो यह संसार ही स्वर्ग धाम बन सकता है। प्रश्न होता है— 'आख़िर यह मानवता' है क्या ?' इस तत्त्व को स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के १६ वें अध्याय में दैवी व आसुरी सम्पदाओं के विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है । प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं श्लोकों की व्यवहारिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। साधकों को इन दैवी विभूतियों को अपने जीवन में उतारना चाहिये ।

अखण्ड–ज्योति, मथुरा। — रामचरण महेन्द्र एम० ए०, प्रोफेसर, हरबर्ट कालिज, कोटा।

दैवी सम्पदाएँ।

"दैवी सम्पद् विमोक्षाय"—गीता

उक्ति कुछ पुरानी हो चुकी है, किन्तु उसमें जो महान् सत्य अन्तर्निहित है, जिस तथ्य की ओर संकेत किया गया है, वह चिर नवीन है। मेरे एक अंग्रेज मित्र ने मुझ से कहा था 'प्रिय, तुम इस रूप में तो मेरा सम्मान करते हो कि मैं कवि हूँ, लेखक हूं, पंडित हूं, अच्छा अध्यापक हूँ, कलाकार भी हूँ, किन्तु क्या तुमने कभी यह ज्ञात करने की चिंता की है कि मैं मनुष्य भी हूं, अथवा नहीं? क्योंकि यदि मैं 'मनुष्य' हूँ तो सब कुछ हूँ, और यदि 'मनुष्य' नहीं हूँ, तो मिट्टी का ढेला मात्र हूं। अन्तर केवल यही है कि मशीन की भांति मैं बोलता खाता तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ करता हूँ और जड़ मिट्टी का ढेला निश्चेष्ट पड़ा रहता है।'

मानवता का ह्रास—

मैं जब कभी गहराई से उक्त तथ्य पर विचार करता हूं और अपने इर्द गिर्द दृष्टि-निक्षेप करता हूँ तो मानवता की दुरावस्था देखकर उक्त पंक्तियां अनायास ही स्मरण हो आती हैं। परमेश्वर का राजकुमार, उस जगत्-आत्मा का अंश, मनुष्य, विश्व का सर्वोच्च, सर्वगुण-सम्पन्न उच्चतम प्राणी है। ईश्वर ने उसे श्रेष्ठतम प्राणी उच्चतम शक्तियों से विभू-

षित महान् जीव इसलिए बनाया है कि वह 'मनुष्यत्व' प्राप्त करे और प्रभु के दिव्य उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए परमात्मा के एकत्व में अपनी कल्पित भिन्न सत्ता को सर्वथा विलीन कर दे।

युग युग के पुण्यों, सत्कार्यों तथा साधनाओं के पश्चात् 'मनुष्यत्व' जैसी दिव्य सम्पदा का अधिकारी जीव बन पाता है। इस संसार में जो सबसे उच्च शक्तियां हैं, जो दिव्य गुण, असाधारण समृद्धियां, अद्भुत सिद्धियां या अनमोल अलौकिक तत्त्व हैं, उन सभी को एकत्रित कर 'मनुष्य' की सृष्टि की गई है। उसे सबसे अधिक सुविधाएँ एवं अधिकार देकर पृथ्वी पर अवतीर्ण किया गया है। मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक विभूतियों से सब प्रकार सज्जित कर दिव्य आत्मानन्द के लिए हमें सभी कुछ दे दिया गया है। मनुष्य के संस्थान में आध्यात्मिक चेतना के असाधारण क्रियाशील तन्तुओं का निर्माण ऐसी अद्भुत कारीगरी के साथ सम्पन्न हुआ है कि हम इन दिव्य साधनों के सदुपयोग से परमपिता के समस्त अधिकारों को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। जिस शक्तिशाली देव दुर्लभ मानव-जीवन की रचना पर परमात्मा ने अपनी कला की इतिश्री करदी है, यदि आज की प्रगतिशील दुनियां में वह पशुओं से कुछ भी ऊँची उपयोगिता सिद्ध न कर सके, तो विक्षिप्त बुद्धि का दुःखद प्रलाप ही कहा जायगा।

आज मानवता रो रही है। मनुष्य अपने आपको तुच्छ जीव समझने लगा है, वह इन्द्रियों का गुलाम है, पाखंड, अभिमान, तृष्णा, पाप, स्वार्थ, वासना–इन आसुरी ताक़तों ने उसे मज़बूर कर दिया है। उसमें संकुचिता पैठ गई है तथा

विषम सीमाबंधन की दीवारें उसकी आत्मज्योति को विकीर्ण होने में बाधा पहुँचा रही हैं। लोगों के हृदय में वासनाओं का तूफ़ान मचा है। वे मनुष्यत्व से दूर जा पड़े हैं। आज का 'सभ्यता' की डींग हांकने वाला मनुष्य साक्षात् असुर बन गया है। उसकी पशु प्रकृति, क्रूर वासनाएँ, आसुरी प्रवृत्तिएँ पग पग पर उसके पतन की सूचना दे रही हैं। एक मनुष्य दूसरे भाई को कच्चा चबा डालने को प्रस्तुत है।

आज अपने को मनुष्यता की कसौटी पर कसते हुए हमें आत्म ग्लानि का अनुभव होता है। अनेक ऐसे सुधारक कवि, लेखक, नेता, पुजारी, पंडे, धर्मोपदेशक आदि हैं, जिन्हें हम आदर की दृष्टि से देखते हैं, परम श्रद्धा का पात्र समझते हैं नमस्ते, प्रणाम, दंडवत् का अधिकारी समझते हैं, उनके भाषण सुनते तथा उनकी रचनाओं का रसास्वादन करते हुए अपने को कृतकृत्य समझते हैं। हम उन्हें आदर्श मान कर उनका यथोचित गुणगान भी करते हैं। देवत्व (Hero-worship) की भावना से प्रेरित होकर हम उन्हें अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पूजते हैं। कम से कम साधारण भोले भाले भावुक साधकों की तो यही भावना होती है कि वे सुधारक हैं, नेता हैं, पत्रकार हैं, विद्वान् पुजारी हैं, परमात्मा के अनन्य उपासक हैं, किन्तु उनमें कितनी भलमनसाहत है, कितनी ईमानदारी, सत्यता, प्रेम, दया, न्याय सौजन्य है, संक्षेप में उनमें कितनी 'मनुष्यता' है—इस तत्त्व पर हम प्रायः अपने ज्ञान-चक्षु एकाग्र नहीं करते। किसी नेता, गुरु धर्म प्रचारक, पुजारी, धर्मोपदेशक या हमारे श्रद्धा के पात्र में कितना 'मनुष्यत्व' है, इस पहलू की ओर हम आकर्षित नहीं होते।

इस देव दुर्लभ शरीर को पाकर यदि हम मनुष्य न

बने तो फिर सुधारक, नेता, पुजारी, राष्ट्र के पथ प्रदर्शक बनने से क्या प्रयोजन ? यदि हम में अपने वास्तविक स्वरूप के साधारण उपकरण ही नहीं हैं, तो फिर उपदेशक, नेता, कवि सुधारक बनने की क्या उपयोगिता ?

आज का वैज्ञानिक मनुष्य अपने वैभव पर इतराता है, विपुल धन राशि, सुन्दर २ ऐश आराम की वस्तुएँ, सुस्वादु पकान, वस्त्र आभूषण, ऊँची ऊँची गगन चुम्बी अट्टालिकाएँ देखकर अपने ज्ञान-विज्ञान पर फूला नहीं समाता। बिजली की चकाचौंध देख कर उसको वासना फूली नहीं समाती, किन्तु उफ् ! मानवता का मापदंड जितना आधुनिक काल में गिरा है, उतना कदाचित् किसी समय में पतित नहीं हुआ। सब प्रकार से सुसज्जित एवं सुसंस्कृत कहलाने वाले सभ्य मनुष्य को यदि फाड़ कर देखा जाय, तो वह पुराने बर्बर मनुष्य से भी निम्न श्रेणी का निकलेगा। उसका नैतिक पतन बहुत हुआ है, वह आदमियत की श्रेणी से गिरकर शैतानियत की श्रेणी में आ पहुँचा है। यह आज के सभ्य समाज का कटु सत्य है।

इस तत्त्व की सिद्धि के लिए हमें अपना दैनिक जीवन तथा व्यवहार अपने रिश्ते और छल छद्म देखने होंगे। हमें आत्मघात की बढ़ती हुए घटनाओं को देखना होगा, अपने घर के अन्धकारमय वातावरण को देखना होगा, न्यायालयों में दिन पर दिन बढ़ते हुए अभियोगों पर दृष्टिपात करना होगा हास्पिटलों में पागलपन, मृगी, उन्माद के अनेक मरीज़ों को देखना पड़ेगा। औफिस, घर तथा सार्वजनिक स्थल-प्रायः सभी स्थानों पर आपको एक संकीर्ण, संकुचित और स्वार्थान्धता से सनी हुई दूषित मनोवृत्ति की गन्दगी उपलब्ध होगी।

इस भयंकर महायुद्ध को देखिये। चारों ओर मारकाट मची है छीना झपटी का झाडू चल रहा है. कुटुम्ब और मानवता के बीच एक दीवार खड़ी होती जा रही है, वर्ग भेद, रूढ़िवादिता, एवं स्वार्थपरता हमें नष्ट कर रही है। पार्टीबंदी का जोर है, विज्ञापन को पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे लोग आदमियत को छोड़ कर पाकिस्तान बना सकते हों। जहां आदमियत नहीं. इन्सानियत की भव्यता नहीं। वहां कैसे स्वतन्त्रता क़ायम रह सकती है। स्वतन्त्रता की मांग से पूर्व हमें 'इन्सानियत' का तकाज़ा करना चाहिये। हमारे जीवन में जो कृत्रिमता, बनावट, पदलोलुपता, अधमता, स्वार्थपरता आगई है, उसका बहिष्कार होना चाहिये। सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होने वाले मनुष्य को हमें मानवता का पाठ पढ़ाना चाहिये।

जैसा व्यक्ति है, वैसा ही समाज विनिर्मित होता है। जब मनुष्य में 'इन्सानियत' नहीं तो समाज में मानवता कहां मिल सकती है। मानवता का अभाव ही आज संसार को दुःख के दावानल में भस्मीभूत कर रहा है। हमारी संस्थाएँ संकीर्णता की दूषित दलदल में फँस रही हैं।

धर्म क्या है ? आदर्श क्या है ? मनुष्य में सबसे अनमोल वस्तु क्या है ? हमारी राय में यह दैवी पदार्थ उसकी 'मानवता' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। मनुष्य में जो सर्वोत्कृष्ट है, वह है उसकी मानवता। जहां जहां सच्ची मानवता का उन्मेष है वहीं वहीं धर्म है, सुख है, शान्ति है। जहां 'मनुष्यता' का लोप है, वहां नास्तिकता है, अत्याचार है, स्वार्थ तथा आसुरी सम्पत्ति का राज्य है।

देवों तथा असुरों की कोई भिन्न २ जातियां नहीं होती और न वे साधारण मनुष्यों से विलक्षण रूपों वाले होते हैं। 'मानवता' की कसौटी पर खरे उतरने वाले देव, तथा उससे नीचे गिरने वाले असुर होते हैं। दैवी सम्पत्ति के गुण जिनमें अधिक होते हैं, वे मनुष्य होते हुए भी देव हैं और आसुरी प्रकृति वाले राक्षस हैं। दैवी सम्पदाएँ ही मनुष्य की वास्तविक संपत्ति है। वही मानवता का संहार करने वाली हैं। 'मानवता' का अर्थ है, अपने समान ही दूसरों के सुख दुःख और अभाव अभियोगों की अनुभूति पूर्ण कल्पना करना, सब की उन्नति में अपनी उन्नति और सब के सुख में अपना सुख मानना, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को समाज के सुख पर बलिदान करना, तरना और दूसरों को तारना, सब से प्रेम पूर्ण सत्य व्यवहार करना, निर्दयता के विरुद्ध लड़ना। जब मानव हृदय में सात्विक बुद्धि का सर्वाङ्गीण विकास होता है, तब यथार्थ धर्म का उन्मेष होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के १६ वें अध्याय में दैवी सम्पदाओं पर प्रचुर प्रकाश डाला है तथा दैवी सम्पद् वाले लक्षणों का स्पष्ट विवेचन किया है। जो व्यक्ति सच्ची मानवता का विकास करने के इच्छुक हैं, उन्हें इस दिव्य सन्देश का यथार्थ रूप हृदयंगम करना चाहिए। भक्ति तथा ज्ञान के प्रशस्त मार्ग पर जो आगे बढ़ रहे हैं, उनमें दैवी सम्पत्ति के गुणों का विकास होना अनिवार्य है। साधकों को प्रति दिन उसका पाठ करना चाहिए और मनन द्वारा अपने व्यक्तित्व में दैवी सम्पदाएँ उत्पन्न करनें तथा आसुरी सम्पत्ति के अवगुणों को दूर करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। इसी में कल्याण है।

मानवता का मापदण्ड—

भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि 'हे अर्जुन! दैवी सम्पदा जिन पुरुषों को प्राप्त होती है उनके लक्षण ये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अर्थात् जिन महानुभावों को दैवी सम्पदा प्राप्त है, उनमें सर्वथा भय का अभाव, अन्तःकरण की अच्छी प्रकार से स्वच्छता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान तथा इन्द्रियों का दमन, भगवत् पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेदशास्त्रों के पठन पाठन पूर्वक भगवत् के नाम और गुणों का कीर्तन तथा स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता तथा मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग एवं अन्तःकरण की उपरामता, अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव और किसी की भी निन्दादि न करना तथा सब भूत प्राणियों में हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव तथा तेज, क्षमा, धैर्य, और बाहर भीतर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रु भाव न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव

यह सब हे अर्जुन ! दैवी सम्पदा के प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं ।' आइये, इन दैवी गुणों पर पृथक् पृथक् विचार करें ।

दैवी सम्पदा से युक्त व्यक्ति के समीप भय का भूत नहीं आ सकता, वह अपने इष्ट मार्ग पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ रहता है । उसके मन में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य होती है कि प्रतिकूल प्रसङ्ग, सुख-दुःख, हानिलाभ, जय-पराजय, हर्ष शोक का तनिक भी प्रभाव उसकी उत्तम धारणाओं पर नहीं पड़ता, भय नामक राक्षस उसके जीवन-प्रवाह को मन्द नहीं कर सकता, शरीर मन तथा उसकी आत्मा की समस्वरता (Harmony) में किसी प्रकार का भी व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता ।

प्रथम सम्पदा—भय का अभाव—

सांसारिक पुरुष नाना प्रकार की आवश्यकताओं, माया-मोह भोगों के चक्र में फँसते हैं और संसार सागर में भयंकर थपेड़े खाते रहते हैं । उन्हें पग पग पर अपनी आत्मा का ह्रास करना होता है, कितने ही व्यक्तियों का ध्यान रखना पड़ता है । ऐसी अवस्था में भला वे कैसे निर्भय हो सकते हैं ? आज का सभ्य कहलाने वाला ज्ञानी मनुष्य अनेक भयों में फँसा है । उसे अपनी स्थिति क़ायम रखने, धन जाने का भय, पुत्र पुत्री के स्वास्थ्य, शिक्षा, विवाह की चिन्ता, भोजन, वस्त्र, नाश, झूठी इज़्ज़त, विरोध, समाज की आलोचना, शरीर नाश, घर के झगड़ों का डर अस्त व्यस्त कर रहा है । उसने अपने चहुँओर भाँति भाँति के व्यर्थ के प्रपंच रच रक्खे हैं । इन आसुरी भावों के फल स्वरूप उसके मन में भयानक अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है । कुछ व्यक्ति रुपये के लोभ में आत्मा की महान् सत्ता को विस्मृत कर सैकड़ों की गुलामी कर रहे हैं । गीता में निर्देश है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

अर्थात् माया ने जिनका ज्ञान (सद्बुद्धि) हरण कर लिया है, ऐसे पापी, आसुरी स्वभाव के नराधम मानव मेरी शरण नहीं हो सकते।

भय का कारण है, अज्ञान, मिथ्या, शिक्षा एवं शरीर के नाश की चिंता। अपने वास्तविक स्वरूप में मनुष्य को सद्ज्ञान से परिपूर्ण निर्भय होना चाहिए। मनुष्य तो साक्षात् आत्मा है, नारायण का पवित्र अंश है—उसके समीप भय कैसे रह सकता है। भय हमारी अपनी आदत मात्र है। यदि हम अपनी महान् शक्तियों का प्रदर्शन तथा अद्भुत चमत्कार देखना चाहते हैं तो हमें निर्भयता सीखनी चाहिए।

साधक! उठ पूर्ण निर्भय हो जा। कायरता के अन्धकार से मुक्त होकर साहस, पौरुष निर्भयता के सूर्य को देख! यही तेरा प्रकाश है। तू! सावधान होकर आत्म-तत्त्व के दीपक से ब्रह्म तत्त्व का दर्शन कर जिसका तू प्रतिबिम्ब है। भय का अस्तित्व तो अज्ञान में है। तेरे अन्तस्तल प्रदेश में आत्मज्योति जगमग कर रही है फिर तेरे अन्तःकरण में भ्रम, शंका, संदेह, चिंता और अनिष्ट प्रसंग कैसे उथल पुथल मचा सकते हैं? तुझे हीनता का डर नहीं, निकृष्टता, रोग, ग्लानि, प्रतिकूलता, व्यग्रता तुझे विचलित नहीं कर सकते। तू अपनी कायरता की कंचुकी तोड़ कर आत्म प्रकाश में जाग! तू अपने अज्ञान को छोड़, मनुष्यत्व का ज्ञान और निर्भयता की शान्ति में उसका प्रकाश कर! मनुष्य में निर्भयता ऐसी शक्ति है जिसके बल से वह इस भूतल का स्वामी बना है और चिरकाल तक राज्य

करतः रहेगा। स्मरण रख, स्वयं भय खाना या दूसरे को भय दिखाना दोनों ही मनुष्य धर्म के विपरीत हैं।

जीवन में तुम्हें चहुँओर अन्धकार, प्रतिकूलता दुःख, क्लेश दिखाई देते हों, तो आत्मा को देदीप्य मान कर प्रमाद, रहित होकर प्रकाश में आने का प्रयत्न करो, निर्बल और त्रस्त विचारों को निकाल कर दृढ़ता, निर्भयता पुरुषार्थ, एवं प्रसन्नता की भावनाओं को मानस प्रदेश में जमाओ और पूर्ण निर्भय जीवन व्यतीत करो।

द्वितीय सम्पदा—अन्तःकरण की स्वच्छता—

दैवी सम्पदा से युक्त साधक नक़ली या बनावटी जीवन से बहुत दूर रहता है। जब मन, वचन कर्म में एकता नहीं रहती तब आन्तरिक अशुद्धि प्रारंभ होती है और क्रमशः काम, क्रोध लोभ मोह ईर्ष्या, अभिमान, राग द्वेष, छल, कपट एवं दम्भादि दुर्गुण चित्त को अपवित्र बना देते हैं। आज बड़प्पन तो रह गई है, किन्तु आन्तरिक महानता से जीवन बहुत दूर चला गया है। जीवन की आधुनिक कृत्रिमता, बनावट तथा नक़लीपन को दृष्टि में रखकर किसी कवि ने क्या ही उत्तम कहा है—

> मन में राखें और कछु, वाणी में कुछ और।
> कर्म करें कछु और ही, झूंठे तीनों ठौर॥

मन के स्वार्थ, वासनाओं तथा अहंबुद्धि के परिमार्जन से अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है। अपनी आत्मा को ब्रह्म में अर्पण करना, दूसरे के दोष न देखना, कुसंग से मुक्ति, तमोगुणी वातावरण से दूर रहना, पर स्त्री संगी, प्रमादी, अकारण द्वेषी, सन्त-साधु-शास्त्र विरोधी, नास्तिक, दम्भी,

अभिमानी, परनिन्दापरायण, लोभी, परछिद्रान्वेषी से दूर रहने से अहंबुद्धि का नाश तथा आन्तरिक शुद्धि होती है।

स्वच्छ अन्तःकरण में महर्षि पतंजलि की बताई हुई चारों वृत्तियां रहती हैं। अर्थात् ऐसा व्यक्ति मैत्री, करुणा, मुदिता, एवं उपेक्षा-इन चारों से कार्य लेता है। वह जिस २ को सुखी देखता है, उसके प्रति मित्रता का भाव रखता है। है। किसी को दुःखी देखे तो अपनी करुणा का मृदु मरहम उसके घावों पर लगाता है यदि पुण्यवान् से मिलता है, तो प्रसन्न होता है और यदि किसी दुष्ट या पापी को देखता है तो वह उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार दुख से त्रस्त मानव के प्रति करुणा के व्यवहार से उसकी स्वार्थपरता दूर होती है। पुण्यवान् को देखकर प्रसन्न होने से गुणों में दोष देखने की गन्दी आदत नष्ट होती है और दुष्ट की तटस्थता से क्रोध, ईर्षा, घृणा आदि दोषों से अन्तःकरण स्वस्थ बनता है। दैवी सम्पदा वाला पुरुष सबको समभाव से देखता और प्रेम करता है, वह अपने क्रियात्मक जीवन में वास्तविकता को स्थान देता है, जैसा सोचता है वैसा ही करता है। उसके मन, वचन तथा कर्म तीनों का एक रूप होता है।

तृतीय सम्पदा—ज्ञानयोगव्यवस्थिति

परमात्मा के स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिए सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में, एकी भाव से ध्यान की निरन्तर गाढ़ स्थिति का ही नाम "ज्ञानयोग व्यवस्थिति" है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का कोलाहल शान्त होने पर वैराग्युक्त पवित्र चित्त से अपने इष्टदेव भगवान् का आह्वान करने पर ध्यानावस्था में भगवान् के दर्शन होते हैं। ध्यानावस्था योग की उच्चतम स्थिति है जिसमें इष्टदेव के साकार रूप का

ध्यान करने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती प्रत्युत एक अदृष्ट शक्ति ब्रह्मरंध्र द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश होने लगती है।

इस स्थिति के लिये चुपचाप नेत्र मूंद कर सुखासन से बैठ जाइये और मन में अपने इष्टदेव की मानसिक मूर्ति का निर्माण कीजिए। तदनन्तर अपने उपास्यदेव की स्तुति प्रार्थना कीजिए इससे आन्तरिक शान्ति, प्रसन्नता, एवं ज्ञान की वृद्धि होगी। शास्त्र तथा महात्माओं के वचनों के आधार पर तथा अपने इष्टदेव के रुचिकर चित्र के आधार पर भी ध्यान हो सकता है।

जो व्यक्ति परमात्मा के स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिए उनके ध्यान रूपी योग में निरन्तर दृढ़तापूर्वक स्थित रहता है उसे संशय के घमंड, क्रोध, दिखाऊपन, कठोरता, प्रवंचना का भय नहीं रहता उसे अतिशय भक्ति, प्रेम, सहानुभूति की प्राप्ति होती है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उनकी भक्ति करने से होता है परन्तु इससे पूर्व शास्त्रों एवं महात्माओं के द्वारा उनका, तथा उनके स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सत्संग, सद्ग्रन्थावलोकन, एकान्तवास, दीर्घकाल साधन, सदासर्वथा साधु व्यवहार तथा अन्ततः पापों से सदा सावधान रहना चाहिए। एकनिष्ठ होकर निरन्तर भगवन्नाम जप, कीर्तन मनन ध्यान करने से स्वतः चित्त चंचलता नष्ट हो जाती है और मन की स्वभाविक गति आनन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाती है।

चतुर्थ सम्पदा—सात्त्विक दान—

सात्विक प्रवृत्ति वाला आत्मक सात्विक दान को जीवन

में उपयुक्त स्थान देता है। यदि सच पूछा जाय तो निखिल विश्व की समस्त गतिविधि 'दान' के सतोगुणी नियम के आधार पर चल रही हैं। परमेश्वर ने कुछ ऐसा क्रम रक्खा है कि "पहले दो तब मिलेगा"। जो कोई भी तत्त्व अपने दानकी प्रक्रिया बन्द कर देता है, वही नष्ट हो जाता है, विकृत एवं कुरूप हो जीवन-युद्ध में धराशायी हो जाता है। संसार की किसी भी जड़ चेतन, यहां तक कि मन्द बुद्धि पशु जाति तक देखिए। सर्वत्र दान का अखंड नियम कार्य कर रह है।

यदि कुएँ जल दान देना बन्द कर दें, खेत अन्न देना रोक दे, पेड़ फल पत्तियां छाल देना बन्द करदें, हवा जल, धूप गाय, भैंस इत्यादि पशु अपनी सेवाएँ रोक दें, तो समस्त सृष्टि का संचालन बन्द समझिये। माता पिता बालक के लिए आत्म दुख देना बन्द कर दें, तो चेतन जीवों का बीज ही मिट जायगा। और सबसे बड़ा दानी परमेश्वर तो हर पल हर घड़ी हमें कुछ न कुछ प्रदान करता रहता है। उसकी रचना में दान तत्त्व प्रमुख है।

दान का अभिप्राय क्या है? वह है सकीर्णतासे छुटकारा आत्म संयम का अभ्यास एवं दूसरे की सहायता की भावना को उत्तेजना। दान करते समय हमारे मन में यश प्राप्ति की इच्छा, फल की आशा, या अंहकार की भावना नहीं होनी चाहिए। दान तो स्वयं प्रसन्नता सुख एवं संतोष का दाता है। दान करना स्वयं एक आनन्द है। देते समय जो संतोष की उच्च सात्त्विक वृत्ति अन्तःकरण में उठती है वह इतनी महान् है कि कोई भी भौतिक सुख उसकी तुलना नहीं कर सकता।

पैसा, धन, तथा वस्तुएँ सबके काम में आनी चाहिए। यदि आपके पास व्यर्थ पड़ा है तो उन्हें मुक्त कण्ठ से दूसरे

श्रो दीजिए। पैसेकी रुपयेकी बुरी तरह चौकीदारी करने वाला कंजूस दान के स्वर्गीय आत्म सुख का रस स्वादन करने से वंचित रहता है। जो मुक्त हृदय से देता है, वह वास्तविक आत्मवादी है। जो दान करता है, वह मानव के हृदय में रहने वाले एक सात्विक प्रवाह की रक्षा करता है, स्वार्थों को मारता है, और तुच्छ संकीर्णता से ऊपर उठता है।

आत्मा की संकीर्णता छोड़िये। यदि आप दूसरों को देंगे तो परमात्मा आपको और देगा किन्तु यदि आप कंजूसी करेंगे तो आपको मिलना बन्द हो जायगा। जो उदार है, दानी है, सत्कर्मों में अपनी सामर्थ्य भर देता है वास्तव में वही बुद्धि मान है तथा बुद्धिमानों के ही पास दैवी सम्पदाऐं रहती हैं। देश काल पात्र का विचार करके केवल कर्तव्य बुद्धि से द्रव्य अथवा आवश्यक वस्तु का दान करना श्रेयस्कर है।

राल्फ वाल्डो ट्राइन नामक पाश्चात्य आध्यात्म वेत्ता ने धन की उपयोगता का विवेचन करते हुए लिखा है—"जिस मनुष्य ने अपनी सम्पूर्ण आयु धन कमाने में व्यतीत करदी, और मरते समय कुछ दान पुण्य किया, उसकी जिन्दगी उत्तम नहीं, मध्य श्रेणी की ही कही जायगी। मैं अपने फटे हुए निकम्मे जूते किसी को दूं इसमें कोई महत्व नहीं है, किसी पैर जलते हुए मनुष्य को नये मज़बूत जूते देने में ही परोपकार है। यदि उन जूतों के साथ अपना प्रेम भी उसे देदूँ, तो उसको भी दूनी चीज मिल जाती है और मुझको भी दूनी आशीष मिल जाती है।

मनुष्य एकत्रित किए हुए धन का सदुपयोग करने का अच्छे से अच्छा समय तथा मार्ग यही है कि वह अपने जीवन-काल में ही प्रति दिन उसका परोकार (दान) में

सदुपयोग करे। ऐसा करने से उसका जीवन अधिक उन्नत और विकसित होगा। एक समय ऐसा आवेगा, जब धन का ढेर छोड़ कर मर जाने वाले की पीछे से निन्दा होगी। आशय यह है कि, परोपकार का पुण्यकार्य भविष्य की पीढ़ियों तथा ट्रष्टियों को सौंप जाने की अपेक्षा जाते जा अपने हाथ से कर जाने में ही धन का अधिक सदुपयोग होता है।"

सात्विक दान ही परमगति को देने वाला मुक्ति स्वरूप साधन है। दान से त्याग बलिदान एवं वैराग्य की त्रिविध भव-भय नाशिनी अलौकिक सुधा धारा उत्पन्न होकर हमें जगत् का वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है। ऐसा दानी भक्त जगत् के समस्त कर्म करते हुए भी अहंकार, स्वार्थ, मोह, माया से मुक्त रहता है। पाप तापों की कोई शक्ति नहीं जो उसे विचलित कर सकें।

पाँचवीं सम्पदा—इन्द्रियों का दमन

अपनी पांचों इन्द्रियों को वश में रखना, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा निसिद्ध विषयों का सेवन न करना और विहित भोगों का भी उचित मात्रा से अधिक सेवन न करना पांचवां दैवी सम्पदा है। आत्मवादी इस शरीर रूपी रथ में जुते हुए इन्द्रिय रूपी अश्व के लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होने देता। इनको वश में करने की सामर्थ उसके प्रबल मन या बुद्धि में होती है। वह प्रत्येक कार्य के सब पहलू देखकर कार्य में प्रवृत्त होता है। क्षणिक सुख से मत्त होकर प्रलोभन में प्रतिष्ठ नहीं हो जाता। प्रत्युत बल पूर्वक मन को सात्त्विक कार्यों में मोड़ता है।

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक यह ज्ञानेन्द्रियां तथा हाथ, पांव, वाक्, पायु, तथा उपस्थ कर्मेन्द्रियां हैं किन्तु इनमें ज्ञानेन्द्रियां अधिक प्रबल हैं। इनमें से प्रत्येक में आसक्ति द्वारा अत्यन्त

भयंकर पतन सम्भव है। विविध विघ्न बाधा संकुल जगत में वे ही सात्त्विक मुमुक्षु भाग्यशाली हैं जो भाव विचार, बुद्धि, वासना की स्फुरणाएँ अपने विवेक द्वारा रोके रहते हैं और उन्हें पथभ्रष्ट नहीं होने देते। विवेक द्वारा विषयों का मनन करने से, शास्त्रों के समीचीन अध्ययन, सत्संग, ब्रह्मचर्य, से संसार की रमणीयता थोथी प्रतीत होती है और शुद्ध बुद्धि का प्रकाश होता है और साधक को धन वैभव विद्या बुद्धि, तेज प्रभाव, गुण-गौरव, बल-रूप, यौवन श्री की सारहीनता स्पष्ट हो जाती है।

इन्द्रियों के दमन में सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन, अध्ययन कीर्तन अत्यन्त महत्त्व का है। सांसारिक विषय, भोग, तामसिक पदार्थों का सेवन, कुतर्क, भोग विलास, परनिंदा, दम्भ, परदोष श्रवण, अत्यधिक कामना, नियमानुवर्तिता का अभाव वृत्तियों को अस्थिर एवं चंचल कर देता है और इन्द्रियां विषयों की आसक्ति में फँसती हैं। इसके विपरीत जीवनचर्या को सात्त्विक, प्रेम भक्ति से शराबोर रखने से योग आसनों द्वारा व्यायाम, प्राणायाम से समस्त नीच इन्द्रिएँ फीकी पड़ जाती हैं।

जिस साधक को अपनी आत्मा की अचल, अव्यय, अनन्त शक्ति में दृढ़ विश्वास है, उसकी इन्द्रियां बाह्य पदार्थों में नहीं भटकतीं, वह दुष्ट स्वार्थों में चित्त की स्थिरता भंग नहीं होने देता। अतः आत्म श्रद्धा जाग्रत कीजिये मन मन्दिर के मालिक बनिये, उपद्रवी प्रलोभनों का प्रवेश निषेध कर दीजिए। मनो नियम के पूर्ण ज्ञान से युक्त होने पर संसार की वासनाओं के हलचल मचा देने वाले झकोरे तुम्हें उद्वेलित नहीं कर सकते।

छठी सम्पदा- पूजा एवं अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण—

भगवान् के अथवा किसी शास्त्रोक्त देवता के साकार विग्रह की शास्त्रोक्त विधि से अधिकारानुसार पूजा करना तथा अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण करना दैवी सम्पत्ति के शुभ लक्षण हैं। पूजा से यहां सुविस्तृत अभिप्राय लेना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व में नाना रूपों में भगवान् हमारी पूजा चाहते हैं। आप चाहे जिस स्थिति में हों, निज कर्मों द्वारा भगवान् के किसी अंग की सेवा कर सकते हैं। यदि डाक्टर हैं तो मरीजों में भगवान् का स्वरूप देखिए, यदि अध्यापक हैं, तो विद्यार्थियों में भगवान् आप से सेवा चाहते हैं, यदि दूकान-दार हैं तो ग्राहकों को परमेश्वर का अंश मानकर कर्मों द्वारा उनकी सेवा कीजिए। आपकी पूजा सद्व्यवहार, सहानुभूति, प्रेम, सच्ची सेवा, आदर बुद्धि, साधु व्यवहार के रूप में होनी चाहिए। सब से विनम्र व्यवहार रहे, मान प्रतिष्ठा की इच्छा न रहे, केवल कर्तव्य मान कर आप संसार में भगवान् के इन सगुण-साकार रूपों की पूजा कीजिए।

गीता में स्वयं भगवान् ने अपने कर्मों द्वारा उन्हें पूजने का निर्देश किया है। सत्कर्म ही श्रेष्ठ पूजा है, विश्वप्रेम भी ईश्वर प्रेम के अन्तर्गत है। कर्मयोगी निरन्तर निःस्वार्थ सेवा से अपनी चित्त शुद्धि कर लेता है। उसका व्यवहार प्रेमयुक्त, मिलनसार, मृदुल होता है। उसमें सहनशीलता, सहानुभूति, विश्वप्रेम, दया और सब में मिल जाने की सामर्थ्य रहता है। देश सेवा, समाज सेवा, दरिद्र सेवा, रोगी सेवा, पितृ सेवा, गुरु सेवा यह सभी कर्मयोग के अन्तर्गत है। उसके समस्त कर्म "ब्रह्मार्पणम्" होते हैं।

हमारा कर्म भगवान् की पूजा तभी कहला सकता है, जब उसके दो भाव प्रधान रूप से हों। प्रथम तो उसमें ममता, आसक्ति, एवं फलेच्छा का त्याग होना अनिवार्य है। वह कर्म फल की आशा न रखता हुआ कार्य करे। जैमिनी ऋषि के मतानुसार अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म ही वास्तविक कर्म हैं। निष्काम भाव से किया हुआ कोई भी कर्म कर्म है। श्रीमद्भगवद् गीता का प्रधान उपदेश कर्म में अनासक्ति ही तो है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कर्म करते हुए हमें इस बात का स्मरण होना चाहिए कि हम इस कर्म के द्वारा भगवान् की पूजा कर रहे हैं, जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में हम आ रहे हैं, वे भी भगवान् के ही स्वरूप हैं, समस्त जगत् भगवान् के एक अंश में स्थित है, वे ही इस जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं। इस प्रकार के निस्वार्थ कर्मों द्वारा ही पूजा संभव है।

सातवीं सम्पदा—कीर्तन

वेदशास्त्रों के पठन पूर्वक भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन करना सत्पुरुषों का लक्षण है। इसके लिए सर्व प्रथम सन्त महात्माओं तथा महापुरुषों का सत्संग कर भगवान् के विविध नामों का महत्त्व समझना चाहिए, उनके रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, अलौकिक कृत्य, तथा नवधा भक्ति का स्वरूप समझना चाहिए। भगवान् के नामों तथा कार्यों का वास्तविक अभिप्राय समझ कर श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक कीर्तन करने से मन आनन्द विमुग्ध हो जाता है। अहह! उस दैवी आनन्द की तुलना कौन कर सकता है? शरीर में दैवी रोमांच हो उठते हैं और हृदय में भक्ति की कली प्रस्फुटित हो उठती है। धन्य तो वे साधक हैं जिनका जीवन भगवान् के विविध नामों,

रूपों, लीलाओं, प्रेम, धाम और भक्ति-तत्त्व की अमृतमयी वाणियों के कीर्तन में व्यतीत होता है !

यह कीर्तन भक्ति मनुष्य की सर्वोच्च दैवी सम्पदा है, जीव तथा परमात्मा के सम्मिलन का साधन है, भगवत्प्राप्ति का सरल द्वार है। "ब्राह्मण घाती, पितृ घाती, गोघाती, मातृ घाती, गुरू घाती- ऐसे पापी तथा चाण्डाल एवं म्लेच्छ जाति वाले अधम व्यक्ति भी इस कीर्तन से शुद्ध हो जाते हैं।" प्राचीन शास्त्रों में कीर्तन भक्ति द्वारा अर्थात् भगवान् के नाम तथा दैवी गुणों के कीर्तन से समस्त अघ पापों का नाश एवं भगवत् प्राप्ति वतलाई है।

कीर्तन में श्रद्धा, प्रेम तथा सत्यता आवश्यक तत्त्व हैं। वह दम्भरहित एवं शुद्ध भावना से सम्पन्न होनी चाहिए। श्री जयदयाल गोयन्दका के शब्दों में कथा व्याख्यानादि के द्वारा भक्तों के सामने भगवान् के प्रेम-प्रभाव का कथन करना, एकान्त अथवा बहुतों के साथ मिल कर भगवान् को सन्मुख समझते हुए उनके नाम उपांशु जप एवं ऊँचे स्वर से कीर्तन करना, भगवान् के गुण प्रभाव और चरित्र आदि का श्रद्धा और प्रेम पूर्वक धीरे धीरे या ज़ोर से खड़े या बैठे रहकर वाद्य एवं नृत्य सहित अथवा बिना वाद्य नृत्य उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदों के द्वारा भगवान् की स्तुति प्रार्थना। यही उत्तम भक्ति को प्राप्त करने का प्रकार है।"

दैवी सम्पदा एकत्रित करने के इच्छुक को सायं प्रातः अनन्य भाव से प्रेम पूर्वक कीर्तन करना चाहिए, आत्मा को भगवत् प्रेम में इतना तन्मय कर देना चाहिए कि ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित हो जाय।

आठवीं सम्पदा—स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन ।

यथार्थ साधक भगवान् बुद्ध की भांति स्वधर्म पालन के लिए कहता है—'इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाय, मांस, त्वचा, अस्थि, नष्ट हो जांय किन्तु बहु कल्प दुर्लभ बोध प्राप्त किए बिना इस आसन से न उठूँगा।' ऐसा साधक स्वधर्म पालन के लिए आने वाली प्रत्येक कठिनाई को धूल के समान समझता है। प्रतिघात एवं प्रतिकूलता उसके संकल्प को क्षीण करने के स्थान पर नव प्रेरणा प्रदान करते हैं। भयंकर आंधी तूफान में भी वह कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ता से अग्रसर होता है और अपना इच्छित वस्तु को ध्रुव की भांति सदा समान रख कर साधना में आत्म शक्ति का योग करता है। उसकी साधना पुरुषार्थ एवं दैवबल के सम्मिलन से अपूर्व दिव्यता का आवि-र्भाव होता है।

आपत्तियां स्वयं उससे डरती हैं। आपत्तियां तो उनपर आती हैं जो आपत्तियों से डरते हैं। जो विपत्ति से घबराता नहीं, वरन् उसका मुकाबला करने को सदैव प्रस्तुत रहता है, वे उसके पास फटकती ही नहीं। अन्य व्यक्ति भले ही समझते रहें कि उस पर आपत्ति आई हुई है किन्तु वह इतना दृढ़ एवं आत्म संयमी होता है कि उस स्थिति में भी अन्तः करण की शान्ति को भङ्ग नहीं होने देता। जो सौभाग्य में खुशी से नहीं नाचते, वे दुर्भाग्य के समय रोते भी नहीं हैं। दैवी सम्पदा युक्त व्यक्ति समझता है कि कठिनाईयां, प्रतिकूलता साधना के व्यायाम हैं जिनका निर्माण इस उद्देश्य से किया गया है कि साधक की आत्म शक्ति, दृढ़ विश्वास, तथा अटल संकल्प की परीक्षा हो सके।

आत्मवादी कष्ट को देख कर डरता या पथच्युत नहीं

होता, उसके मुख मंडल पर चिंता या विषाद की लकीरें नहीं दीखती वरन् स्वधर्म पालन में ही उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है। जब दुःख उसके सामने आते हैं तो वह मुसकराते हुए साहस के साथ कहता है—

"ऐ मेरे आने वाले दुःखो! आओ!! ऐ मेरे बालको चले आओ! अपनी भूलों द्वारा मैंने ही तुम्हें उत्पन्न किया है, मैं ही तुम्हें छाती से लगाऊँगा। दुराचारिणी वेश्या की तरह तुम्हें "जार पुत्र" समझ कर छिपाना या भगाना नहीं चाहता, तुम सती साध्वी के धर्मपुत्र की तरह आओ। मेरे आंचल में क्रीड़ा करो। मैं कायर नहीं हूँ जो तुम्हें देख कर रोऊं। मैं नपुन्सक नहीं हूँ जो तुम्हारा भार उठाने से गिड़गिड़ाऊँ। मैं मिथ्याचारी नहीं हूँ, जो अपने किए हुए कर्म का फल भोगने से मुँह छिपाता फिरूँ। ऐ कष्टो। मैं तुम्हें देखकर घबराता नहीं, डरता नहीं। तुमसे बचने के लिए किसी को सहायता नहीं चाहता वरन् एक कर्तव्य-निष्ठ बहादुर साधक की भांति तुम्हें स्वीकार करता हूँ।"

पुण्यभूमि भारत के राजर्षियों के स्वधर्म पालन, उनके दृढ़ संकल्प, निष्ठा एवं दृढ़ता को कौन नहीं जानता? ज्ञान एवं धर्म के निमित्त इन्होंने दीर्घकाल साधन का आश्रय ग्रहण किया। महर्षि पतंजलि ने कहा है—"सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।" अभ्यास जब दीर्घकाल तक निरन्तर सद् संकल्प के साथ किया जाता है, तभी स्वधर्म पालन उचित रीति से हो पाता है। राजर्षि विश्वामित्र, राजर्षि जनक, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि के कष्ट किससे छिपे हैं? ज्ञान, सत्य, धर्म, तथा प्रण की रक्षा के लिए इन्होंने कठोर परिस्थितियों का सामना किया और अन्त में अपने धर्म पालन में सफल हुए। राजर्षि,

विश्वामित्र की कठोर तपश्चर्या तो आज भी रोमान्चित करने वाली है।

जिस मनुष्य ने स्वधर्म पालन को ही अपना मूल मन्त्र बना लिया है, वह सदा सुखी और आनन्दित रहेगा। उसके विचारों में दृढ़ता, संकल्प में निष्ठा, एवं भावनाओं में पवित्रता होगी। मनुष्य अपने विचारों का ही फल है। जो स्व-धर्म का ही विचार करता है, वह अपने मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की मानसिक लीक बनाता है। वह अपने कर्तव्यों में उत्साह पूर्वक सलग्न रहता है। ये विचार शीघ्र ही उसके बाह्य जीवन में उत्तम अवस्थाओं के रूप में प्रकट होते हैं।

जिस मनुष्य को यह आत्मिक गुण—स्वधर्म पालन में दृढ़ता वर्तमान है, वह इन्द्रियों को भी वश में कर सकता है। यह गुण मन को साधते और शिक्षित करने के लिए सर्वोत्तम है। इसीसे आत्मवादी बलवान एवं स्वावलम्बी बनता है। यह आत्मा में स्थित होने का फल है। जो आत्मा में स्थित है, वह प्रकृति में स्थित है। उसके लिए न आन्तरिक द्वन्द है, न बाह्य प्रतिकूलता। सारे द्वन्द निम्न भूमिका में हैं।

नवीं सम्पदा—अन्तःकरण की सरलता।

अन्तःकरण की सरलता से अभिप्राय है छल द्वेष, प्रपंच दुरभि संधि से मुक्ति, निस्वार्थ भाव तथा शुद्ध हृदय से पीड़ित जनता की सेवा, आत्मा का प्रकृति एवं मनुष्यों के साथ स्वच्छन्द सम्पर्क, निःसंकोच, निर्भय व्यवहार। सरलता एक सामाजिक अंग है। हैवलाक एलिस ने अपने "अफरमेशन्स" नामक ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा है कि सन्त फ्रान्सिस ने इस लिए जानबूझ कर दरिद्रता और सरलता अंगीकार की थी कि जिसमें प्रकृति और मनुष्यों के साथ हमारा अबाध्य

सम्पर्क स्थापित हो सके। सरलता के सम्बन्ध में आपने कहा है।

"फ्रान्सिस की आत्मा कहती थी कि जब व्यक्ति की आत्मा का प्रकृति और मनुष्यों के साथ बिल्कुल स्वच्छन्द रूप से सम्पर्क स्थापित होता है, तब उसे बहुत अधिक आनन्द और स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। बिल्कुल सीधी-साधी तथा मामूली बातों से ही हमारा जीवन "वास्तविक" (Real) बनता है। प्रकृति तथा मनुष्य के साथ इस प्रकार की एकता का आज कल के शिल्प तथा व्यापार आदि में फँसे हुए समाज का बहुत अधिक अभाव देखने में आता है तथा समाज के व्यक्तिगत सदस्यों को इस प्रकार की एकता की बहुत अधिक कामना रहती है। जब कभी लोगों को काम धन्धे आदि की छुट्टी मिलती है, तब वे छूटते ही देहात या समुद्र तट आदि की ओर दौड़ पड़ते हैं। इसी से सिद्ध होता है कि वे प्रकृति और मनुष्यों के साथ एकता स्थापित करने और उनके सम्पर्क में रहने को अतीव उत्सुक रहते हैं, किन्तु आज कल सब जगह प्राय: यही देखने में आता है कि मनुष्यों में पारस्परिक एकता और मेल जोल का बहुत अभाव है।"

एकता के अभाव का कारण है हमारा शक्की मिज़ाज, छल, दूसरे को धोखा देकर अपना काम बना लेने की प्रवृत्ति। यदि हम मनुष्य को मनुष्य समझने लग जांय, मन का संचित, मल, ईर्षा, असन्तोष कटुता या घृणा निकाल दें तो परिणाम स्वरूप मनुष्यत्व के इतने निकट आ जांय कि हर एक मनुष्य अपने को दूसरे का भाई समझने लगे। यह एक ही कुटुम्ब का सम्बन्धी अपने को मानने लगे, शान्ति, प्रेम, सहानुभूति, औदार्यता की धारा प्रवाहित हो उठे। सरलता के अभाव में हमने

अपने बीच में जो स्वार्थ की दीवार खड़ी करली है, वह टूट जाय। गरीब एवं अमीर अपने विचारों, अनुभूतियों, एवं भावनाओं में सतयुगी बन जांय।

जो व्यक्ति अहिंसा में विश्वास रखते हैं उनके लिए तो अन्तःकरण की सरलता की नितान्त आवश्यकता है। दैनिक व्यवहार में भी यदि किसी व्यक्ति को दूसरे का भय लगा रहेगा, वह शान्ति पूर्ण न रह सकेगा। तब तक सरलता पूर्वक व्यवहार करने का अभ्यस्त न होगा, जब तक दूसरों के मन में उसकी शुद्ध-हृदयता और स्वार्थ त्याग की पूर्णता के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत सन्देह बना रहेगा और जब अहिंसा पूर्ण प्रतिरोध का समय आवेगा, तब यह सन्देह उसके विनम्र प्रतिरोध और स्वेच्छाजन्य कष्ट सहन के मार्ग में बाधक होगा।

सभी धर्मों में अन्तःकरण की सरलता पर जोर डाला गया है। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म तथा ईसाई मतों ने इसको विशिष्ठ महत्व प्रदान किया है। सरलता कोमल हृदयता की जननी है। शुद्ध हृदयता, साहस, निष्ठा, मेल मिलाप की प्रवृत्ति, आज्ञाकारिता, आत्म त्याग और संयम सब गुण अन्तःकरण की सरलता में सम्मिलित हैं। सरलता एक प्रकार का मानसिक स्वास्थ्य भी है। जिस अन्तःकरण में द्वेष,प्रपंच,डर, शंका इत्यादि घुस जाते हैं,वह मानसिक रोगोंसे युक्त होता है, स्थान २ पर भयंकर गलतियां करता है, पग पग पर अपमानित होता है, स्नायविक रोगों का शिकार बनता है, मन, कल्पना, वासना के उत्पीड़न एवं संघर्षों से कुण्ठित हो जाता है, अनुभूति की शक्ति मन्द पड़ जाता है। स्वास्थ्य पर इसका बड़ा दुष्ट प्रभाव पड़ता है। वही मनुष्य जब अन्तःकरण के मल धो डालता है, तो इसकी गलत फ़हमियां दूर हो जाती हैं, बुद्धि, आत्मा, मन एवं आन्तरिक दृष्टि स्वच्छ हो जाती है।

दसवीं सम्पदा–अहिंसा

अहिंसा से अभिप्राय है—मन, वाणी, शरीर से किसी को किसी प्रकार का भी कष्ट न देना। किसी को अपशब्द कह कर दुःखी कर देना भी उतना ही घातक है जितना किसी का अपने शरीर से मारना, आघात करना या पीट देना। दैवी सम्पदा युक्त साधक का व्यवहार इतना मृदुल, सहानुभूतिपूर्ण एवं प्रेम पूर्ण होता है कि शास्त्रों में वर्णित तीनों प्रकार के पापों (१) कायक अर्थात् शरीर से होने वाले, (२) वाचिक अर्थात् वाणी से होने वाले तथा (३) मानसिक अर्थात् दुर्विचार से होने वाले—से वह सर्वदा मुक्त रहता है। मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवद्चिन्तन करनेके स्वभाव के कारण वह अनिष्ट चिन्तन से दूर रहता है।

इस संसार में जो पापों की वृद्धि हो रही है। झूठ, कपट चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, राष्ट्रों में परस्पर विद्वेष एवं कलह की वृद्धि रही है, निर्बलों का शोषण तथा सद्जनों का तिरस्कार हो रहा है, यह वास्तव में हिंसा के ही फल स्वरूप है। ज्यों ज्यों मनुष्य अपने हिंसक स्वभाव को वश में करता है, त्यों त्यों उसमें परमात्मा के दैवी गुणोंका विकास होता है। ऐसे साधक में धैर्य, क्षमा, दया, त्याग, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, निर्भयता, वत्सलता, सरलता, कोमलता, मधुरता, सुहृदयता आदि गुणों का पार नहीं रहता हिंसा की प्रवृत्ति आत्मिक विकास में बड़ी बाधक है।

अहिंसा को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। व्यंग कटाक्ष के वचन, अनाप शनाप बकना, द्वेषपूर्ण वाक्य झूठ कपट का व्यवहार भी हिंसा के अन्तर्गत आता है। परदोष

दर्शन, दूसरों की आलोचना, साम्प्रदायिकता से भी मन में कुसंस्कार जाग्रत होते हैं।

स्वार्थ को त्याग कर दूसरों के हित के लिए प्रयत्न शील होना, प्रेम द्वारा दूसरों को अपना बना लेना आत्म भाव का विस्तार करना, इन्द्रियों के व्यापार में निरत न होना, प्रत्युत दूसरोंके लिए कष्ट सहना तक अहिंसामें सम्मिलितहै। अहिंसा के लिए एक सुगठित शरीर तथा दृढ़ आत्मा की आवश्यका है। शास्त्रविहित स्वभाविक कर्मों द्वारा जो अनिवार्य हिंसादि दोष हुआ करते हैं, वे दुराचार नहीं हैं (गीता १८।४८), एवं ऐसे हिंसादि दोष फलेच्छा, राग-द्वेष-और अँहकार रहित मनुष्य को दूंपित नहीं कर सकते (गीता १८।१७)।

ग्यारहवीं सम्पदा—प्रिय शब्दावलि एवं मधुर भाषण

अन्तःकरण एवं इन्द्रियों द्वारा जैसा मन में विश्वास किया हो, ठीक वैसा ही प्रिय शब्दों में कहना—ग्यारहवीं दैवी सम्पदा है। इस तत्त्व के अन्तर्गत दो बातें आती हैं। (१) शुभ चिन्तन शुद्ध सात्त्विक विचार दूसरों की भलाई सोचना (२) सोचे हुए को प्रिय एवं मधुर शब्दों में व्यक्त करना। मधुर भाषण का प्रभाव अत्यन्त गहन होता है। इसीसे कहा गया है— "वशीकरण एक मन्त्र है—तज दे वचन कठोर"। प्रिय शब्दा-वलि से शत्रु भी परास्त हो जाते हैं। यह वाक् इन्द्रियों का दैवी आभूषण है।

वाक् कर्मेन्द्रिय है जिसकी साधना द्वारा मनुष्य सद्‌गति प्राप्त कर सकता है। वाक् साधना कैसे हो सकती है? इस साधना का सर्वोत्तम उपाय यह है कि मनुष्य यह निश्चय करे कि सदा सर्वदा मीठी बात बोलूंगा, कम बोलूंगा, सब कुछ मधुरता की मिश्री से युक्त कहूँगा। कड़वी बात से जो भयंकर

प्रभाव पड़ता है, सर्व विदित है। किसी से कटु अप्रिय, अभद्र शब्द न बोलिये; अपने से छोटों, नौकरों, बालकों यहां तक कि जानवरों तक को अपशब्द द्वारा न पुकारिये।

भोजन के छहों रस में मधुर रस अग्रिणी है। शिशु से लेकर वृद्ध, तथा नारी—सम्पूर्ण जगत् मीठे वचन को पसन्द करत हैं। मधुरता से मनुष्य क्या देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं यही कारण है कि हवन यज्ञों में मीठे का भाग अवश्य होता है ब्रह्म भोज में मीठे की प्रधानता होती है। संसार में सबसे अधिक मीठी वस्तु मीठी बोली है। मधुर भाषण जैसी मिठास भला और कहां प्राप्त होसकती है। रहीमजी ने निर्देश किया है।

"कागा काको धन हरे, कोयल काको देय।
मीठे वचन सुनाय कर, जग अपना कर लेय॥

हरिण मधुर शब्दों को सुन कर भागना भूल जाते हैं, मधुर बीन सुनकर विषधर सर्प बिलसे बाहर निकल आते हैं। एक विद्वान का कथन है कि- "प्रिय भाषण में वशी करण की महान् शक्ति है। इससे पराये भी अपने होजाते हैं। सर्वत्र मित्र ही मित्र दृष्टि गोचर होते हैं। मधुर भाषण एक दैवी वरदान है, मोहन शस्त्रों में इसे सर्व शिरोमणि कह सकते हैं।

सत्य भाषण, हितकर भाषण, प्रिय भाषण एवं माधुर्य रस से ओतप्रोत भाषण वाणी की सिद्धियां हैं। यह आत्म संयम, स्वार्थ त्याग एवं प्रेम भावना से आती हैं। जिसके मन वचन, कर्म में दूसरों के प्रति मधुर भाव हैं, उसे वशीकरण विद्या का पूर्णज्ञाता समझिये। जड़ चेतन सभी उसके वश में है, मुट्ठी में है।

मधुर बोलिए, और उसके मीठे फल आपको मिलेंगे।

मधुर भाषण करने वाले की जिह्वा पर साक्षात् सिद्धियां निवास करती हैं। अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के द्वारा जैसा निश्चय किया हो, ठीक वैसा ही हमें नित्य प्रति के व्यवहार दैनिक वार्त्तालाप तथा आचरण में लाना चाहिए। यह दैवी सम्पत्ति का लक्षण है। शास्त्रकारों का वचन है-"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्मा ब्रूयात्सत्यमप्रियम्" अर्थात् "सत्य बोलो और मधुर बोलो। कटु सत्य मत बोलो। दैवी वाणी का मूल अन्तःकरण का औदार्य्य, प्रेम, प्राणिमात्र में मित्र बुद्धि (या आत्मबुद्धि) उत्पन्न करता है। दैवी वाणी निंदा, परदोषदर्शन, आलोचना, छिद्रान्वेषण खरीखोटी, नीचता, असूया, ईर्षा आदि से बहुत दूर रहती है। उसका प्रमुख उद्देश्य दूसरों के सद्गुणों, उच्च भावनाओं, सदविचारों को प्रकट करना है। दैवी वाणी से आयु में वृद्धि होती है।

दैवी वाणी, मधुर वाणी का ही नित्य प्रति के व्यवहार में उच्चारण कीजिए और उसके मीठे फल चखिये, दूसरे के सद्गुण ही निरखिये, प्रेम, सहानुभूति, भ्रातृभाव, सत्य, हितैषी बातों को कोमल एवं मधुर वाणी से कहिए। आप जितना ही प्रिय भाषण का उच्चारण एवं श्रवण करेंगे, उतनी ही शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसके विपरीत खोटा वचन खोटे रुपये के सदृश है। जिसको तुम दोगे, वही लौटा देगा। मीठी वाणी ही आनन्ददायक है। उसी में माधुर्य है।

बारहवीं सम्पदा—अक्रोध

मनुस्मृति जैसे प्रमाणिक ग्रन्थ में मनु जी ने धर्म के दस लक्षणों की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता (बाह्य एवं आन्तरिक) इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, आध्यात्म विद्या, सत्य तथा अक्रोध-ये मानव धर्म के दस प्रधान लक्षण हैं। दैवी सम्पदाओं के अन्तर्गत अन्तिम अंग "अक्रोध" है।

क्रोध करना प्रत्येक दृष्टि से हेय है। इससे मनमें भयंकर उद्वेग, थरथराहट, कंपन जलन, दूषित संस्कार उत्पन्न होते हैं जो अन्तकरण की शान्ति को भंग कर देते हैं, मन की समस्वरता, संतुलन, एवं शान्त प्रकृति नष्ट हो जाती है, बुद्धि पर एक प्रकार का पर्दा सा छा जाता है, सामाजिक कलह की नींव पड़ती है, पारस्परिक सम्बन्धों में भय एवं घृणा की वृद्धि होती है, सब असंतोष एवं अनिष्ट की अग्नि में जलने लगते हैं, भूल पर भूल होती हैं, मनुष्य की मनोवृत्ति कुछ की कुछ हो जाती है। क्रोध एक प्रकार का पागलपन है जिससे सद् संकल्पों का विनाश होता है, मनुष्य बड़े से बड़ा अन्याय करते नहीं हिचकता, द्वेष क्रोध के रूप में परिणत होकर न्यायान्याय की वृत्ति को पंगु कर देता है और हम कुछ ऐसी बात कर बैठते हैं जो हमारे भविष्य के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होती है। दैवी उन्नति के पथ पर आरूढ़ व्यक्ति के लिए क्रोध साक्षात् विष तुल्य है।

क्रोध एक प्रकार की मानसिक एवं स्नायविक दुर्बलता का प्रतीक है। दृढ़ संकल्प एवं स्थिर मानसिक शक्ति वाले पुरुष क्रोध के दुःखदायी संस्कारों से मुक्त रहते हैं। क्रोध द्वारा सर्व प्रथम तो उस व्यक्ति को ही क्षोभ पहुँचता है, जो क्रोध करता है, तत्पश्चात् प्रकट होने पर यह चारों ओर क्षोभ का

वातावरण उत्पन्न करता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति आन्तरिक दुःख से व्याकुल हो जाता है। क्रोधी अपने हाथ से शिष्टता, माधुर्य, एवं गौरव खो बैठता है। क्रोधी से न्याय का आशा करना मूर्खता है। वह तो अन्याय की दुःखमय मानसिक स्थिति में निवास करता है।

दैवी सम्पदा से तेजवान् पुरुष अपने शत्रु पर भी क्रोध नहीं करता। सद्भावना, सद्विचार, सद् इच्छा की प्रकृति उसकी स्थायी मानसिक अवस्था होती है। सद्भावना द्वारा वह सभी पर एक दैवी प्रभाव डाला करता है।

क्रोध का शारीरिक परिवर्तनसे गहन सम्बन्ध है। क्रोध, भय या द्वेष के आवेग में मुँह में पीछे से कैसा कडुवा स्वाद आता है, इसका तुमने स्वयं अनुभव किया होगा। यह भयंकर विष होता है, जो जीवन-शक्ति का ह्रास करता है। क्रोध युक्त माता के दुग्धपान से शिशु को ज्वर, अपच, एवं अन्य व्याधियाँ तक होती देखी गई हैं। क्रोध, बेचैनी, चिन्ता इत्यादि का भयंकर तथा विषमय प्रभाव ज्ञान तन्तुओं पर पड़ता है। परिणाम स्वरूप शरीर में गड़बड़ एवं कष्ट उत्पन्न होते हैं।

अक्रोध अर्थात् शान्त चित्त वृत्ति ही दैवी पुरुष का लक्षण है। जिस मन में उद्वेग, चिन्ता, घबराहट नहीं है, सब वृत्तियां शान्त स्वरूप भगवान् पर एकाग्र हैं, जो पूर्ण निर्विकार निर्दोष आत्मा में स्थिर है, जो सब को प्रेम करता है और शत्रु तक के लिए मन में क्रोध, ईर्षा, असूया के बुरे भाव नहीं लाता, ऐसी हितैषी वृत्ति को शान्त प्रकृति कहते हैं। दैवी पुरुष के विमल अन्तःकरण में प्रसन्नता, आनन्द, एवं हित के विचार ही अखण्ड जागृत रहते हैं। वही उसकी स्थायी वृत्तियां हैं।

अक्रोध अर्थात् शान्त चित्त वृत्तिही दैवी पुरुषका प्रधान लक्षण है। जिस मन में उद्वेग, चिन्ता, घबराहट, नहीं है, सब वृत्तियां शान्त स्वरूप भगवान् पर एकाग्र हैं, जो पूर्ण निर्विकार निर्दोष, आत्मा में स्थिर है, जो सबको प्रेम करता है और शत्रु तक के लिए मन में क्रोध, ईर्षा असूया के बुरे भाव नहीं लाता ऐसी हितैषी वृत्ति का शान्त प्रकृति कहते हैं। दैवी पुरुष के विमल अन्तःकरण में प्रसन्नता, आनन्द, एवं हित के विचारही अखण्ड जागृत रहते हैं। वही उनकी स्थायी वृत्ति होती है।

तेरहवीं सम्पदा- कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग-

"हमारे पुरुषार्थ से यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ है, यदि हम इसमें पुण्य सहयोग प्रदान न करते तो यह कदापि पूर्ण न होता, अधूरा रह जाता। अन्य किसी में इस कार्य को पूरा करने की शक्ति नहीं है। अतः हमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं अर्थ प्राप्ति होनी चाहिए।"-ऐसी विचार धारा से बड़ा उत्पात होता है और कर्म मार्गी साधक राग द्वेष के वशीभूत होकर पतित हो जाता है। दैवी पुरुष को तो निस्वार्थ एवं निष्काम भाव से लोक हित का ही कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। भगवान् के निष्कामी भक्त हो महान् कार्य करने में समर्थ हुए हैं।

सत्पुरुष अपने कर्मों की सफलता का श्रेय भगवान् को देता है। उसकी क्रिया एवं कर्म अहंकार प्रेरित न होकर प्रभु प्रेरित हुआ करते हैं। वह अपने आप को प्रभु के हाथों में एक औज़ार (Instrument) मात्र मानता है। वह शुद्ध समझता है कि मेरे कर्मों की बागडोर तो मेरे परम प्रभु के कर कमलों में है। उन्हीं के द्वारा समस्त कार्य सम्पन्न होता है। मैं तो केवल उनके हाथ में एक यन्त्र हूँ। जब इसके द्वारा कोई महान्

कार्य सम्पन्न होता है तो वह यही समझता है कि यह सब तो प्रभु के प्रताप से हुआ है, मैं तो एक निमित्त मात्र हूँ ।

"मैं तो एक निमित्त मात्र हूँ"–ऐसा सोचकर दैव पुरुष किसी से द्वेष या घृणा नहीं करता प्रत्युत अपने अन्तःकरण की पवित्रता, शान्ति, शीलता, समता, श्रद्धा, दया, इत्यादि भावों के कारण सर्वत्र सुहृदयता की वर्षा करता है । वह अपने हृदय से वक्रता और ऐंठ को खोद खोद कर उन्मूलन कर डालता है । विनय उसका आभूषण बन जाता है । नम्र बन जाने के कारण परमात्मा निरन्तर उसे दैवी शक्ति से उत्साहित किया करते हैं ।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा तथा कार्यों में अभिमान प्राप्त करने की इच्छा खाज की भांति बड़ा सुहावना रोग है । इसके वश में हो जाने पर मनुष्य सत् कर्मों तक को अभिमान की अग्नि से भस्म कर देता है, प्रमादी बन जाता है, अपने भाग्य पर इतराता है और आत्मा का पतन करता है । अभिमान बड़ी संक्रामक बीमारी है, जो मनुष्य को अधोगति में पहुँचा सकती है ।

चौदहवीं सम्पदा—अन्तःकरण की उपरामता

"उपरामता" से अभिप्राय यह है कि दैवी पुरुष में चित्त की चंचलता का सर्वथा अभाव रहे । चित्त की चंचलता जगत् प्रसिद्ध है । श्री भगवान् स्वयं कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तु मुपायतः ॥ (गीता ६-३६)

अर्थात् जिनका मन वश में नहीं है, उनके लिए योग को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है किन्तु मन को वश में करने वाले प्रयत्न शील पुरुष साधन द्वारा 'योग प्राप्त कर सकते हैं ।"

इसमें सन्देह नहीं कि चंचल चित्त का निग्रह अत्यन्त कठिन है अर्जुन प्रभृति महा पुरुषों के सन्मुख भी मनोनिग्रह की सीढ़ी पर सब से अधिक कठिनाई पड़ी थी किन्तु बिना इसके दुःखों की निवृत्ति एवं अन्तःकरण की शान्ति भी तो संभव नहीं है। "मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मनही जगत के बंधन और मोक्ष का प्रधान कारण है।

दैवी सम्पदा से युक्त पुरुष के हृदय में वासनाएँ, अभद्र इच्छाएँ एवं सांसारिक कामनाएँ इधर उधर दौड़ नहीं मचाती मन अप्रिय विषयों में नहीं भटकता, उद्देश्य रहित होकर निष्प्रयोजन वस्तुओं में नहीं लगता, या एक के पश्चात् दूसरी वस्तु पर नहीं जमता। उसके अन्तःकरण प्रदेश में तो एकाग्रता शान्ति, एवं आनन्द का साम्राज्य रहता है। वह अपने जीवन के प्रकाशमय, आनन्द एवं प्रेममय पहलुओंपर ही अध्यात्मिक नेत्र एकाग्र करता है। उसका अन्तर्प्रदेश विक्षेप रहित शान्त तथा क्षोभ रहित होता है। उसके चित्तकी स्थिति आत्मा के आनन्द के कारण स्थायी रहती है।

चित्तकी चंचलता से साधारण मनुष्य क्षुद्रातिक्षुद्र तुच्छ बातों से उद्विग्न हो जाया करता है, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, वह ज़रा ज़रासी बात पर बिगड़ता है, स्नायविक दुर्बलता के उसके ज्ञानतन्तु क्षीयमान रहते हैं, चंचलता एवं उद्विग्नता से उसकी मन शक्ति का भयानक ह्रास होता है। सम्पूर्ण दिन वह कुछ न कुछ कार्य की चेष्टाएँ किया करता है। उसका जीवन प्रतिकूलता एवं प्रतिघात क्षणिक मनोवेगों, एवं मनोविकारों के संघर्ष का जीवन है। अनिष्ट की आशंका, फजूल की हाय हाय, मृत्यु का भय, दरिद्रता, रोग, संशय, आत्मघाती विचार उसकी आंतरिक स्थिति को क्षत विक्षत किया करते हैं।

अन्तःकरण की उपरामता प्राप्त करने के क्या साधन हैं? इसके लिए स्वयं भगवान् ने दो उपाय बताये हैं। प्रथम है अभ्यास बारबार मन को दुश्चिन्ताओं से मोड़ कर एक प्रधान आत्म तत्त्व पर एकाग्र करना चाहिए। पहिले पहिल तो रोकने से मन पुनः पुनः राग, वासना तथा सांसारिक सौंदर्य में उलझेगा, किन्तु दीर्घ काल के अभ्यास से यह उछल कूद शान्त हो जायगी। दूसरा साधन है-वैराग्य। सांसारिक पदार्थों का अस्थिर अनित्य स्वरूप समझ में आने से जब जीव सर्वथा वितृष्ण हो जाता है तब सद्विवेक के नेत्र उन्मीलित होते हैं। विषयों में से सौंदर्य हटकर हम उसके उद्गम-स्थान-आत्म-सौंदर्य पर आ जाते हैं। माया-मरीचिका से वितृष्ण होते ही वैराग्य के ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं और सम्पूर्ण अविद्या दूर हो जाती है।

मन को वश में करने के लिए नित्य नियम से रहना, नियमित दिनचर्या बना कर नियमानुवर्तिता का पालन करना चाहिए। प्रतिदिन सायंकाल सोते समय सम्पूर्ण दिन के शुभ अशुभ कृत्यों पर मनन करना चाहिए। सात्त्विक कार्यों के लिए मन को प्रोत्साहन एवं दुष्कार्यों के लिए ताड़ना देनी चाहिए। मन के कार्यों एवं विचारों के ऊपर तीव्र दृष्टि रखनी चाहिए और दृढ़ता से पछाड़ना चाहिए। बुरे कार्यों, दूषित विचारों, निंद्य चिन्तन से बलपूर्वक हटा कर उसे सत्कार्यों में, भव्य मंगलकारी बातों में संलग्न रखना चाहिए। गीता में एकाग्रता के लिए भगवान् ने निर्देश किया है—

> शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
> आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचदपि चिन्तयेत्॥

अर्थात् क्रमशः (मन को स्थिर एवं एकाग्र करने का)

अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त हो; धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को परमात्मा में स्थिर करके और किसी भी विचार को मन में प्रवेश न करने दे।" अतः जहां जहां भग कर यह चंचल मन जाये वहां से हटाकर परमेश्वर की कल्पना-प्रसूत मूर्ति में ध्यान-अवस्थित करना चाहिए योगदर्शन में वर्णित मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का अभ्यास करना चाहिए, समाधि एवं प्राणायाम आदि से चित्त स्थिर होता है। इसके अतिरिक्त एकाग्र चित्त होकर श्वास के द्वारा भगवान् के नाम का जप करना, संसार के व्यतिक्रम तथा प्रपंच से चित्त वृत्ति को हटाकर आनन्दकन्द सत् चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा में लगाना मन के संयम का अत्यन्त उत्तम साधन है।

वृत्ति चांचल्य से मुक्ति एवं चित्त वृत्ति को अन्तर्मुख करने के लिए मन से पृथक् होकर, उसके कार्यों को देखना चाहिए और विकारमय स्वार्थी विचारों को अन्तःकरण में प्रवेश होने से रोकना चाहिए, वासनाओं की ऊहापोह से बचाना चाहिए और एक चौकीदार की भांति उपद्रवी विचार, भय, शोक, पश्चाताप, मनोविकार, प्रलोभनों का प्रवेश निषिद्ध कर देना चाहिए। ईश्वर-शरणागति, भगवन्नाम का प्रेमपूर्वक कीर्तन मन को जीतने का सहज उपाय भक्तों के हाथ में है। ऐसे आत्म-श्रद्धा सम्पन्न पुरुष बाह्य संसार की हलचलों से प्रभावित नहीं होते।

वही पुरुष चांचल्य से मुक्त है जो सच्चिदानन्द घन परमात्मा में एकी भाव से स्थित है और जो समष्टि बुद्धि के द्वारा इस सम्पूर्ण दृश्यवर्ग को अपने उस अनन्त निराकार चेतन स्वरूप के अन्तर्गत उसी के संकल्प के आधार पर क्षण भंगुर देखता है। इस प्रकार का अभ्यास करते हुए मनुष्य

अपने को ही सब जीवों में आत्मरूप से व्याप्त देखता है। सांसारिक मनुष्यों से सर्व पदार्थों और कर्मों से वैराग्य और उपरामता, निरन्तर विज्ञानानन्द घन ब्रह्म के स्वरूप स्थित रहना—उसके मन का स्वभाविक धर्म सा हो जाता है।

पन्द्रहवीं सम्पदा—निन्दा चुगली इत्यादि न करना—

साधन में निन्दा तथा दूसरे की चुग़ली खाना बड़ा भारी विघ्न है। ऐसा व्यक्ति चुपके चुपके दूसरे के दोषों, कमियों एवं न्यूनताओं का प्रदर्शन करता फिरता है, वह प्रायः सन्त-साधु-शास्त्र विरोधी होता है, दम्भ, अभिमान, परनिन्दा, परछिद्रान्वेषण के कारण उसका अन्तःकरण काला हो जाता है। सर्वत्र बुराई ही बुराई दृष्टिगोचर होती है, विचार एवं वातावरण तमोगुणी रहता है, प्रमाद के कारण आत्मा के सद्गुणों का ह्रास होने लगता है। जिस प्रकार एक छोटे से पत्थर से सम्पूर्ण सागर में कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही निन्दा या चुग़ली के छोटे २ विचार तरंग की भांति अन्तःकरण के रग रेशे में व्याप्त हो जाते हैं। ऐसे कुप्रवृत्तियों, आसुरी विचारों, दुर्भावों से हृदय में संघर्ष मचा रहता है।

दोष देखने वाली दृष्टि हमारे व्यक्तित्व में उन दोषों की वृद्धि करती हैं, जिन्हें हम निरन्तर देखने के अभ्यस्त बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति का मन सदैव पाप, दुष्कर्मों तथा दूसरों की दुर्बलताओं में लगा रहता है वह दूसरों से प्रत्यक्ष में तो डरता है, किन्तु उनकी निन्दा चुग़ली द्वारा अप्रत्यक्ष (uncons-cionsly) रूप में अपने बड़प्पन का ढोंग करता है और स्वयं निर्दोष बनना चाहता है। निन्दा तथा चुगली दुर्बल हृदय की परछाहीं है। वह उन बुरी वासनाओं पापमय प्रवृत्तियों, आसुरी

विचारों का प्रकाशन है जो वहुत दिनों से उसके अन्तःकरण में एकत्रित होगई हैं।

साधक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसके मुख से किसी के लिए उसके पीठ पीछे या सामने निंदा या चुगली का कूर वचन न निकले, उसे कभी किसी भी कभी किसी भी दूसरे धर्म की निन्दा नहीं करनी चाहिए, छल छोड़ कर सबसे साधु, मृदुल, और सरल व्यवहार करना चाहिए और दम्भाचरण से बड़ा सावधान रहना चाहिए। निन्दा सर्प की भांति घातक है। तनिक सी पाप की उपेक्षा करने से बहुत दिनों की संचित दैवी सम्पदा विनष्ट हो सकती है। दैवी पुरुष निन्दा या चुगली के स्थान पर शान्ति दायक सत्य, प्रिय, और मधुर कोमल वचन कहता है।

सोलहवीं सम्पदा—हेतु रहित दया

सब प्राणियों पर हेतु रहित दया करना मानव का विशिष्ट गुण है। अन्य पशु पक्षियों को दया की कोमलता प्रदान नहीं की गई है। हमारे परम पिता परमात्मा का प्रधान गुण दया है अतः वे दया सागर कहलाते हैं। उस दयामय की अनुकम्पा के विषय में जितना विचार किया जाय, उतना ही विमुग्ध हो जाना पड़ता है। भक्तों का आधार अपरिमेय परमात्मा का दया सिन्धु ही तो है। भगवान की दया का वर्णन करने की सामर्थ्य मनुष्य की वाणी में नहीं है, हृदय ही उसका अनुभव कर सकता है, आत्मा ही इस सुख की अनुभूति का रसास्वादन कर सकती है। जो दैवी आनन्द मन, बुद्धि के परे है, जिसका दिग्दर्शन स्वरूप भी नहीं कराया जा सकता, वह दया की शीलता में अवगाहन करने से प्राप्त होता है।

दया किसी स्वार्थ विशेष से प्रेरित होने पर अपने देवत्व

के गुण को खो देती है। जगत् नियन्ता ईश्वर की अपरिमित दया को देखिए। हमारे सम्पूर्ण जीवन में उनकी दया ओतप्रोत है किन्तु भगवान् का इसमें कुछभी स्वार्थ नहीं। दयाकी अजस्र धारा नित्य निरन्तर हमारे चारों ओर प्रवाहित हो रही है और उसमें मनुष्य के अनन्त दुःख, शोक, क्लेश धुल रहे हैं। भगवान् की दया सर्वथा हेतु रहित, अपार एवं सम है। दया के तत्त्व का पूर्ण आनन्द एवं मर्म समझने के लिए साधक को गद्गद् वाणी से प्रभु कीर्तन, मनन विनय पूर्ण प्रार्थना दया का मर्म समझने वाले महा पुरुषों का सत्संग, तथा सत्-शास्त्रों का अवलोकन करना चाहिए।

आप जो कार्य करते हों, जीवन की चाहे जिस स्थिति में क्यों न हों, दया का प्रयोग कर सकते हैं तथा इस दिव्य सम्पदा के अनुपम लाभ उठा सकते हैं किन्तु इसके लिए सब से आवश्यक तत्त्व यह है कि जिस पर आप दया करें, जिसको लाभ पहुँचायें, जिस पर आप को तरस आयें, उसकी सेवा निःस्वार्थ भाव से कीजिए। यह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचायगा या अड़े समय पर काम आवेगा-ऐसी कोई भी भावना अन्तःकरण में मत रखिये। आप विशाल धर्मशालाएं बनवाते हैं, कुआं खुदवाते हैं प्याऊ लगवाते हैं, सैकड़ों भिखारियों को रोटी, कपड़ा बटवाते हैं स्कूलों पाठशालाओं में सार्वजनिक कार्यों में दान देते हैं किन्तु इनमें किसी प्रकार का हेतु कदापि न रखिए। अपनी प्रसिद्ध, लाभ नफा नुकसान, दुनिया को धोखा देने या मानवता का अनुमान करने के लिए दया का स्वांग न कीजिए। ऐसी दया धार्मिकता के नाम पर विडम्बना है। पीड़ित मानवता की जितनी भी सेवा आपसे बन पड़े, जितना भी दुःख, अज्ञान ग़रीबी आप हटा सकते हैं, सामाजिक

कौटुम्बिक अत्याचार जितना भी आप दूर कर सकते हैं, या सदाचार में अपने जनों की या दूसरों की जो सेवा कर सकते हैं, उन सभी में से अपना स्वार्थ, हेतु, लाभ की बात बिल्कुल निकाल दीजिए। महात्माओं की दया में व्यक्तित्व लाभ (Personal gain) की भावना किंचित् मात्र भी नहीं होती। आप भी यथा सम्भव सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों में फल, लाभ या हेतु की इच्छा मन में रखिये। स्वार्थ के लिए दया न दिखलाइये। गीता में निर्देश किया गया है—

"हे अर्जुन ! सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाला, स्पृहा रहित तथा जीते हुए अन्तःकरण वाला पुरुष, सांख्ययोग के द्वारा भी परम नैष्कर्म सिद्धि को प्राप्त होता है। अर्थात् क्रिया रहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा की प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है।"

वास्तविक दया का अर्थ भी समझ लेना चाहिये।" किसी भी दुःखी, आर्त प्राणी को देखकर उसके दुःख एवं आर्तता की निवृत्ति के लिए अन्तःकरण में जो (हेतु रहित) द्रवता युक्त भाव उत्पन्न होता है उसी का नाम दया है।" अपने लाभ की आकांक्षा का उसमें लेश मात्र भी आवरण नहीं होता। दया तो केवल दया के ही लिए होती है।

परमात्मा की शरण जाने से उसके दया भरे सांसारिक नियमों पर विचार करने से, प्रार्थना, भजन एवं ध्यान से, हममें निःस्पृहता, निष्कामता, धैर्य का उत्तरोत्तर विकास होता है और दया का विशुद्ध हेतु रहित स्वरूप प्रकट होता है।

सतरहवीं सम्पदा—आसक्ति का न होना—

गीता के १८ वें अध्याय में सात्त्विक कार्यों के ऊपर प्रकाश डालते हुए निदर्शन किया गया है—

हे अर्जुन ! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक् पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मा भाव को विभाग रहित, समभाव से स्थित देखता है, इस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। (२०) जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया जाता है और कर्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा, बिना राग द्वेष से किया जाता है.वह कर्म सात्त्विक कहलाता है। जो कर्त्ता आसक्ति से रहित और अहंकार के वचन न बोलने वाला धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य सिद्धि होने में न हर्ष शोकादि विकारों से रहित है, वह कर्त्ता तो सात्त्विक कहा जाता है, किन्तु जो आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला अशुद्धाचारी है और हर्ष शोक से लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है।

उच्च श्रेणी का कर्ममार्गी कर्त्तव्य को दृष्टि में रखकर प्रत्येक कर्म में प्रवृत्त होता है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में और कर्मों में तृष्णा और फल की इच्छा का त्याग शास्त्रों में छठी प्रेमी का त्याग कहा गया है। सांसारिक पदार्थ दूर से आकर्षक किन्तु अन्ततः थोथे और निःसार हैं। अतः उन्हें अनित्य समझ कर जो व्यक्ति शरीर निर्वाह के लिए शास्त्रोक्त रीति से भोजन, वस्त्र, औषधि का सेवन करता है, सब प्रकार के भोगों की कामना को त्याग कर सुख दुःख, हानि लाभ, जीवन-मरण आदि को समान समझ कर सम्पूर्ण बान्धव जनों मान बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोक में जितने पदार्थ हैं इन्हें क्षण भंगुर मानकर उनमें ममता एवं आसक्ति का नाश कर देता है और केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही अनन्य भाव से संलग्न हो जाता है, वह गृहस्थ होते हुए भी योगी ही मानना चाहिये।

गीता के अनुसार जीवनमुक्त वही है, जिसका सर्वत्र समभाव है, जो मन, वाणी, तथा शरीर द्वारा होने वाला समस्त क्रियाओं में ममता और आसक्ति का सर्वथा अभाव रखता है, जो सम्पूर्ण पदार्थों से ऊपर उठकर परमात्मा के विशुद्ध प्रेम में स्थित है।

द्वेष का मूल कारण वास्तव में आसक्ति है। आसक्ति द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अनेक शत्रु उत्पन्न होकर साधक की मनः शान्ति भंग कर देते हैं। आसक्ति के कारण मनुष्य कर्तव्य पथ से च्युत होकर परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। इसके विपरीत आसक्ति रहित व्यक्ति अपने सम्पूर्ण कार्यों में स्वार्थ हीन, राग-द्वेष रहित होता है मान, बड़ाई,सांसारिक प्रतिष्ठा उसे झूठ कपट में या अन्य अनुचित कार्यों में नहीं खींच सकती। उसकी बुद्धि सर्वत्र सम रहती है। वह अपन जीवन का सद् व्यय लोक-हितकारी कार्यों में करता है। स्वार्थ से रक्षा के लिए आसक्ति का न होना ज़रूरी है।

आसक्ति का विस्तृत अर्थ लेना चाहिये। इसमें मोह एवं हर प्रकार की ममता, राग, भोग्य पदार्थों की इच्छा, स्वार्थ, लोभ सभी सम्मिलित हैं। आसक्ति के आधिक्य से कृपणता भी उत्पन्न हो सकता है, मनुष्य विषय लोलुप बन सकता है। पदाधिकारी अनेक उपद्रव कर सकता है। अतः मोह का भंग होना आवश्यक है। सच्चा ज्ञानी कभी छल, कपट, दम्भ, असत्य, और अहिंसा का अवलम्बन नहीं कर सकता।

अट्ठारहवीं सम्पदा—स्वभाव की कोमलता

सत्त्वगुण में स्थित हुआ निष्काम साधक अन्तःकरण का कोमल होता है। मनुष्य क्या, पशु, पक्षी, कीट, पतंग

आदि से भी उसका व्यवहार मृदुता पूर्ण होता है। सरल होने के कारण वह प्रत्येक से कोमलता का व्यवहार करता है। वह सब का प्रेमी, सुहृद् और रक्षक है। ईश्वर की साधना द्वारा उसके क्रोध, कठोरता, पशुता, आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं, आन्तरिक प्रेम छलक उठता है जो समस्त जीवों के लिए समान भाव से छा जाता है।

कोमल हृदय में भावुकता होना आवश्यक है। कोमल हृदय वाला समस्त मानवता के दुःख देख कर दुखी, सुख देख कर सुखी होता है। उसके मन में, व्यवहार में, वाणी में तथा दैनिक कर्म में मृदुता छलकती रहती है। वह प्रत्येक व्यक्ति से प्रीतिपूर्ण मीठी वाणी में बातचीत करता है। अपने जीवन के किसी भी अंग में कठोरता नहीं आने देता।

अति कोमलता क्रमशः दीनता में परिणत हो जाती है और कोमलता की न्यूनता कठोरता उत्पन्न कर देती है। कोमलता, दीनता तथा कठोरता के मध्य की स्थिति का नाम है। अतः दैवी सम्पदा से युक्त व्यक्ति यह ध्यान रखता है कि कहीं उसकी कोमलता दीनता या कठोरता में परिणत न हो जाय।

हम दैनिक व्यवहार में देखते हैं कि अनेक व्यक्ति विशेषतः अफसर लोग अत्यन्त कर्णकटु एवं कर्कश भाषा का प्रयोग करते हैं। बोलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों सिर पर डण्डे मार रहे है। उनके मुख से भली बात भी कठोर मालूम होती है। उनके स्वर में असुरता मिश्रित होती है।

यदि हम संसार में अपने पारस्परिक मेल, रिश्ते, सम्बन्ध अक्षुण्ण रखना चाहते हैं, अनावश्यक भय, अपमान, निन्दा, दुःखमय स्थिति से बचना चाहते हैं तो हमें कोमलता

जैसे दैवी गुण की सिद्धि करनी चाहिये। दैवी कोमलता आंतरिक है। मन उसका निवास-स्थान है। हृदय की प्रत्येक भावना, शरीर का प्रत्येक कार्य इस मन की कोमलता से अनुप्राणित होती है। जो व्यक्ति केवल कोमलता का स्वांग करते हैं, वे बड़ी भारी भूल करते हैं, क्यों कि उससे उनकी आत्मा को ठेस पहुँचती रहती है तथा बाद में कलई खुल जाती है और पशु-प्रकृति एवं आसुरी तत्त्वों का रहस्य सब को विदित हो जाता है। कोमलता जब हृदय में स्थायी रूप से वास करती है, तभी वह सप्राण बनती है।

उन्नीसवीं सम्पदा—

लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा—

लोक एवं शास्त्रों में आचरण के योग्य अनेक उत्तम नियम वर्णित हैं। सद्गुण एवं सदाचार का सेवन तथा दुर्गुण एवं दुराचार का त्याग ही शुद्ध सात्विक जीवन का स्वरूप है। मनुष्य को चाहिये कि शास्त्रों का गहरा अध्ययन करे और तत्पश्चात् मन, बुद्धि और इन्द्रियों के संयम के साथ २ अपने कर्तव्यों का पालन करे, किसी को दुःख देने वाली लोक-विरुद्ध वाणी कभी न बोले, किसी का अनिष्ट न करे, किसी के साथ द्वेष या घृणा न करे, घृणित एवं मादक पदार्थों के सेवन से दूर रहे, काम, क्रोध, लोभ, मोह, रागद्वेष, कुतर्क, अहंकार, दम्भ, दर्प, अभिमान और परछिद्रान्वेषण आदि का त्याग करे, सात्विक भोजन करे, यथाशक्ति यज्ञ, दान, तप, नियम, वेद-पठन करता रहे, आध्यात्म विद्या के अध्ययन के लिए श्रवण, पठन-पाठन, मनन, चिन्तन, आत्म निरीक्षण करता रहे, व्यवहार में सदा सर्वदा साधुता एवं मृदुता रक्खे, परमार्थ के कार्यों में सहयोग प्रदान करे और अन्त में अपना

सब कुछ प्रभु को समर्पित कर दे। इन्द्रियों के संयम, तप, सत्य-पालन एवं आत्म-साक्षात्कार करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है।

भगवान ने स्वयं हमें पापों से सावधानी रखने के निमित्त आसुरी सम्पत्ति के लक्षण स्पष्ट कर दिये हैं। दिखाऊपन, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान—ये आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं। गीता के १६वें अध्याय में ७वें श्लोक से १२वें तक भगवान् ने आसुरी सम्पदा का वर्णन इस प्रकार किया है—

"हे अर्जुन! आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्त्तव्य कार्य में प्रवृत्त होने को और अकर्त्तव्य कार्य से निवृत्त होने को भी नहीं जानते। इसलिए उनमें न तो बाहर भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य-भावना ही है।"

"आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुष कहते हैं कि जगत् आश्रय-रहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिये केवल भोगों को भोगने के लिये ही है। इसके अतिरिक्त है ही क्या?"

"जिन व्यक्तियों का सद्स्वभाव इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान के अवलम्बन करके नष्ट हो गया है, तथा जिनकी बुद्धि मंद है ऐसे सबका अपकार करने वाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिये ही उत्पन्न होते हैं।"

"वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर तथा अज्ञान से मिथ्या, सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आच-रणों से युक्त संसार में वर्तते हैं।"

"वे मरण पर्यन्त रहने वाली चिन्ताओं का आश्रय किये

हुए और विषय भोगों के भोग में तत्पर हुए एवं इतना मात्र ही आनन्द है—ऐसे मानने वाले होते हैं।

"अतः आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति नाना भ्रमों मोह तथा प्रलोभन की सैंकड़ो फांसियों से बांधे हुए होते हैं और काम क्रोध के परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।"

"वे प्रायः ऐसा सोचा करते हैं कि मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथ को प्राप्त होऊँगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा।"

यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ, और मैं सब सिद्धियों से युक्त एवं बलवान और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, हर्ष को प्राप्त होऊंगा इस प्रकार आसुरी सम्पत्ति वाले व्यक्ति अज्ञान से मोहित रहते हैं। इसलिये वे अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानीजन मोहरूप जाल में फँसे हुए एवं विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त हुए बड़े अपवित्र नर्क में कठोर यंत्रणाएं भोगते हैं।

आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति अपने आपको ही श्रेष्ठ मानते हैं उन्हें धन तथा मान का घमण्ड होता है। वे शास्त्र विधि से रहित केवल नाम मात्र के लिये यज्ञों का पाखण्ड से यतन करते हैं। वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण हुए एवं दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीर में स्थित मुझ अन्तरयामी(भगवान्) से द्वेष करने वाले हैं। ऐसे द्वेषी, पापाचारी तथा क्रूरकर्मी

नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूं अर्थात् शूकर, कूकर आदि नीच योनियों में ही उत्पन्न करता हूं। इसलिये, हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को (परमात्म – तत्व को) आसक्त होकर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् घोर नर्क में पड़ते हैं।

हे अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ यह तीनों नर्क के द्वार आत्मा का नाश करने वाले सर्व अनर्थों का मूल कारण है, अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए। क्योंकि इन तीनों नर्क के द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है।

जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से व्यवहार करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है तथा न परमगति (मुक्तिपद) को तथा न सुख (ब्रह्मानन्द) को ही प्राप्त होता है। इससे तेरे लिये, इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तू शास्त्र-विधि से नियत किये हुए कर्म को ही करने योग्य है।"

उपर्युक्त प्रवचनों में भगवान् श्रीकृष्ण ने हमें उन पापों से दूर रहने का निर्देश किया है, जो अज्ञान के कारण हो सकते हैं। साधकों को उपर्युक्त तत्वों पर स्वयं सोचना मनन करना चाहिये। स्वाध्याय सत्संग द्वारा शास्त्रों में वर्णित कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। कल्याण की कामना वाले मनुष्य को चाहिये कि वह मन, वचन, कार्य से आसुरी दुर्गुणों का त्याग करता रहे। पापों से सदा सावधान रहे, अपने आप को सम्हाल कर चले, अज्ञान तथा अविद्या से बचे,

प्रभु पर अखण्ड विश्वास रख कर सम्मान में प्रवृत्त हो। उत्तम ग्रन्थों के अध्ययन तथा सत्कर्मों के द्वारा आसुरी अवगुणों का दूर करने का पूरा २ प्रयत्न करना चाहिए।

बीसवीं सम्पदा—व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव—

इसके अन्तर्गत उन चेष्टाओं से बचने का निर्देश किया गया है जो शक्ति का तो बहुत अधिक क्षय करती हैं किन्तु जिनसे लाभ किंचित् भी नहीं होता। साधन में कुचेष्टाएं बड़ा विघ्न उपस्थित करती हैं। अनेक व्यक्तियों में व्यर्थ ही दूसरे के छिद्रान्वेषण या मिथ्यारोपण की आदत होती है, कुछ में तर्क बुद्धि विशेषतः बढ जाती है, कुछ बेमतलब की उक्तियां कह कर यों ही दूसरों को चिढ़ाया करते हैं। कुछ दूसरों को रिझाने, वशीकरण के प्रयोगों, पक्षपात, चापलूसी, कपट की कुचेष्टाओं में फंसे रहते हैं। वर्तमान जीवन आडम्बर पूर्ण होने के कारण धन की लालसा से अच्छे २ आदमी सट्टा, फाटका, ताश, चौपड़ शतरंज पर बाजी लगाकर खेलते हैं, अनेक व्यसनों में फंसते हैं। लाभ होने पर व्यभिचार व्यर्थ का प्रमाद, भांग, आलस्य, अकर्मण्यता इत्यादि घातक बातों से पतन के मुख में जाते हैं। समाज में फैली हुई समस्त कुचेष्टाओं से बचने का संकेत उक्त गुण में सन्निहित है।

कुचेष्टाओं में पाश्चात्य शिक्षा रहन सहन ने बड़ा घातक प्रहार किया है। हमारी बुद्धि तामसी हो उठी है। चाट पानी हलवाई के यहां बैठ कर मिठाई खा खा कर मांस मद्य के आहार, लहसुन, प्याज, बिस्कुट, चाय, आइसक्रीम, तीक्ष्ण मसालों के प्रयोग से हमने कितनी ही अपवित्र वस्तुएं व्यसन रूप में ले ली हैं, स्त्रियों में फैशन, गहनों, इत्र, फुलेल का जोर है। रस्म रिवाजों की आढ़ लेकर पाप बढ़ता ही जा रहा है। वेश्याओं के नृत्य, भडुवों के स्वांग, गन्दे मज़ाक,

सिनेमा, गन्दे गाने, भेहूदी चेष्टाएं तो सर्वथा त्याग करने ही योग्य हैं। इसके अतिरिक्त कामोत्तेजक साहित्य, नाटक, विषयी पुरुषों एवं वाजीकरण दवाईयों की भी कमी नहीं है। खुले आम लोग भद्दी २ दिल्लगियां, विलासिता एवं ऐश आराम की सामग्री जुटाने में व्यतीत कर देते हैं।

हमें चाहिए कि कुचेष्टाओं से उसी प्रकार दूर रहें जिस प्रकार कुविचार से। ईश्वर और धर्म का मजाक बनाना, साधुसंतों को दुतकारना, गाय के ठोकर लगाना, शस्त्रनिर्माता ऋषि मुनियों का अनादर, पूज्य व्यक्ति को प्रणाम न करना, कर्त्तव्य कर्म में आलस्य करना सदाचरण के पथ से दूर जाना है।

तमसाच्छादित होने से प्रमाद बढ़ता है, दम्भ पाखंड एवं बाहरी चमक दमक के लोभ से कुचेष्टा बढ़ती है। एक बहुत बड़ा विघ्न कुसंगति है। जिन व्यक्तियों में छलकपट, भोग विलास, धन स्त्री का अनुराग धूर्तता है उनका संग एक दम त्याग देना चाहिये इसी में आत्म कल्याण है।

इक्कीसवीं सम्पदाः आत्म—तेज

जब साधक की मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियां अत्यन्त उन्नत एवं विकसित हो जाती हैं तो वह चुम्बकीय शक्ति से युक्त एक महान् आकर्षण केन्द्र बन जाता है। उसके व्यक्तित्व से आत्म-तरंगें इधर उधर निकल कर अपना प्रभाव डालती है। उसके विचार सचेतन चुम्बक का काम देते हैं। जैसे सूर्य प्रकाश की तरंगें विकीर्ण करता है, उसी प्रकार यह व्यक्ति आत्मतेज की किरणें बखेरता है। वेद में तेज स्वरूप परमात्मा से पुनः पुनः आत्म-तेज के लिए प्रार्थना की गई है। कहते हैं आत्म-तेज के प्रताप से ऋषियों के आश्रम स्वर्ग-

धाम बने रहते थे। पापी से पापी आत्माएं भी उनके प्रभाव से निखर आती थीं।

आत्मा सर्वशक्तिमान है। उसकी विकसित शक्तियों द्वारा ही ब्रह्मतेज प्रकट हो सकता है। आत्म-तेज से परिपूर्ण होने पर साधक के मुखमंडल से ओजस शक्ति निकलने लगती है। भगवान् ने अपने योग बल से अर्जुन को दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। वह भी आत्म-दृष्टि का ही एक रूप था। अतः साधकों को आत्मा का समयक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और शरीर का तेजोबल प्रदीप्त करना चाहिए।

अपने आप को आत्मा मानिये। आत्मा ही आपका वास्तविक स्वरूप है, वही आन्तरिक शक्ति का मूल स्रोत है। उसी में स्थित होने से आत्म-दृढ़ता आती है और आत्म-विश्वास प्रकट होता है। आत्म शक्ति प्रचुर मात्रा में तुममें वर्तमान है सद् विचारों सद् संकल्पों एवं श्रद्धा से उस महान् शक्ति के पुंज को खोलो, उस मणि मंजूषा में असंख्य रत्न हैं।

बाइसवीं सम्पदा—क्षमा

पूर्ण शक्ति सम्पन्न होते और बदला लेने के साधन होते हुए भी दोषी को माफ़कर देने का नाम क्षमा है। सशक्त क्षमा-वान् द्वारा प्रदान की गई क्षमा का चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है। प्रायः देखा गया है कि सजा का प्रभाव इतना नहीं पड़ता जितना प्रसन्नता पूर्वक क्षमा करने का पड़ता है। ग़लती हो जाना मानव की दुर्बलता है किन्तु इस गलती को माफ़ कर देना देवत्त्व का सूचक है।

ग़लती या दूसरों का अपकार प्रायः ऐसे अल्पबुद्धि व्यक्तियों से होता है जो माया मोहके अज्ञानान्धकार से आच्छा-दित रहते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके द्वारा पाप कर्म हो,

रहा है। बड़े से बड़ा दोषी अपने आपको बुद्धिमान् तथा अप-कार से दूर समझता है। मोह का पर्दा उसकी बुद्धि को भ्रमित कर देता है। ऐसे लघु बुद्धि मोह में ग्रस्त व्यक्ति को सज़ा देनी कौनसी महानता है ?

क्रोध करने से उत्पात का नाश नहीं होता, वरन् वह उत्तरोत्तर बढ़ता है। क्रोध से झगड़ा शान्त करना अग्नि में घृत की आहुति डालना है। गंभीर एवं चिन्तनशील पुरुष धैर्य पूर्वक क्षमा करते हैं, चंचल और क्रोधी डांट फटकार से कार्य निकलना चाहते हैं। व्यवहार कुशल व्यक्ति प्रेम तथा सहानुभूति द्वारा अधिक कार्य निकालता है।

क्षमा में दोनों ही ओर का लाभ है। आवेश में संभव है आप कुछ ऐसा कार्य कर जाय जिसके लिए सदा दुःख उठाना पड़े और एक व्यक्ति सदा के लिए आपका शत्रु बन जाय। यदि प्रति क्रोध न लेकर प्रेम तथा सहानुभूति से क्षमा कर दिया जाय तो उसका चिरस्थायी प्रभाव दूसरे हृदय पर पड़ता है और मनुष्य सदा के लिए अपना हो जाता है।

तेइसवीं सम्पदा: धृति अर्थात् धैर्यधारण

धृति के अन्तर्गत धीरज, संतोष, धारणा, सहनशीलता एवं हृदय की समस्वरता सभी आ जाते हैं। आपको अपनी कठिनाइयां प्रतिकूलताएँ पर्वत के समान दुर्भेद्य सिंह के समान भयंकर और अँधकार के समान डरावनी प्रतीत होती हों किन्तु उनमें धैर्य रखिये। घबराइये या गिड़गिड़ाइये नहीं। बकरी की तरह मिमियाइये नहीं बल्कि सिंह के समान दहाड़ते हुए कर्तव्य मार्ग पर दृढ़ बने रहिये।

धैर्य एक ऐसी दैवी सम्पदा है, जिसके बल से साधक पग-पग पर मजबूती से क़दम उठाता है। अपना "सोऽहम्"

स्वरूप प्रत्यक्ष करता हुआ दूने वेग से आपत्तियों का प्रतिरोध करता है। धृतिमान् पुरुष उस बात का शोक नहीं करता कि मैं असफल हो गया हूँ या दूसरों की नज़रों में गिर गया हूँ, या लोग व्यर्थ दोषारोपन करते हैं, मुझे कोई सहायता नहीं देता वरन् वह आपदाओं के तूफ़ान में भी वेग से आगे बढ़ता है। उसका प्रत्येक कार्य उचित, आवश्यक, लाभदायक, धर्म संगत विवेक युक्त होता है। वह दूसरों के कहने सुनने से अन्याय का पथ नहीं लेता।

जो साधक धर्म एवं मोक्ष के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, उन्हें धृति धारण करना चाहिये। धैर्य खोकर काम वासना आश्रय लेना नास्तिकता है। वास्तविक शक्ति को धैर्य में ही निहित है। उसका कोई अन्त नहीं। यह बल साधारण ताकत का नहीं वरन् दैवी शक्ति है। "धीरज, धरम, मित्र अरु नारी, आपत्ति काल परखिये चारी"—इस उक्ति के अनुसार आपत्ति में सर्वदा धैर्य से काम लेना चाहिये। धैर्य ही धर्म की नींव है।

चौबीसवीं सम्पदाः—पवित्रता

शौच या पवित्रता दो प्रकार की होती है—वाह्य एवं आन्तरिक आजकल लोग बाहरी सफ़ाई (पवित्रता) पर बहुत ज़ोर देते हैं। सुन्दर साफ़ कपड़े पहिनते हैं, सफ़ेद पोश रहते हैं, नाना प्रकार के पदार्थों से बाहरी सफ़ाई का ढोंग करते हैं, किंतु वास्तविक दैवी सम्पदा तो आन्तरिक शुद्धि में ही है। वह साधु उत्तम है जो शरीर को राख से लीप पोत कर गंदा रखता है किन्तु अन्तर की शुद्धि में निरन्तर संलग्न रहता है। अन्तरिक जगत् को दुर्भावनाओं, कुविचारों, कुसंकल्पों द्वारा अशुद्धि नहीं रखता। वह अपने दुर्गुणों को कुसंस्कारों, ईर्षा, तृष्णा क्रोध डाह, क्षोभ, चिन्ता, वासना को विवेक की अग्नि में जला कर

जला कर भस्मीभूत कर देता है। वह अपने अज्ञान को दूर करके मन मंदिर में ज्ञान का दीपक जलाता है।

वास्तव में अन्तरिक शुद्धि का महत्त्व बहुत अधिक है। अपनी मानसिक तुच्छता,दीनता, हीनता, दासता को हटा कर निर्भयता, सत्यता, पवित्रता, की आत्मिक प्रवृतियां बढ़ाना करोड़ों मन स्वर्ण दान करने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आत्मा को ब्रह्म के अर्पण करना आन्तरिक शौच है। जब तक अस्थिचर्म के पुतले में अहंभाव, राग द्वेष रहेगा, तब तक आन्तरिक शुद्धि संभव नहीं। दुर्भावनाओं को परास्त कीजिए। इसके लिए निरन्तर आत्म निरीक्षण और सद् विचार की आवश्यकता है। वास्तविक शुद्धि तो एक मात्र आत्म ज्ञान से ही होती है। आत्म-ज्ञान से अन्दर के शत्रुओं को परास्त कीजिए। सच्चे आध्यात्मिक, व्यक्ति के हृदय में प्रेम, ईमानदारी, सत्यता, उदारता, दया, श्रद्धा, भक्ति और उत्साह भाव उत्पन्न होते हैं, ये सब आत्माके स्वभाविक गुण हैं।

पच्चीसवीं सम्पदाः—

किसी भी प्राणी के प्रति वैर-भाव न रखना

अहंभाव के संकोच से, आन्तरिक संकुचिता के कारण वैर तथा ईर्षा की उत्पत्ति होती है। अज्ञान एवं अविद्या के कारण लोग अपने आप को एक दूसरे से पृथक् समझते हैं। "तू" और "मैं" के पृथक् जानने से ही हम दूसरे को विजातीय मानते हैं। बड़े छोटे का भाव मन में आता है तथा अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं।

अहंभाव का संकोच ही हमारी ईर्षा एवं शत्रुता का प्रधान कारण है। अहंभाव का नाश होने से हम में और तुममें कुछ भेद नहीं रहेगा। अविद्या तथा अज्ञान हमें भेद भाव

सिखाता है: आध्यात्म ज्ञान हममें से संकुचिता निकाल कर सब के लिए समान प्रेम सहानुभूति आदि देता है।

आप प्रत्येक को अपना भाई, सगा सम्बन्धी समझिये। मनुष्य जाति एक लम्बा-चौड़ा कुटुम्ब है। हम सब उसके पृथक्-पृथक् अँग है। हम सब मिल कर एक पूरी समष्टि बनाते है। प्रत्येक की उन्नति के लिए प्रयत्न करना, सभी को प्यार करना उद्योगी एवं उपयोगी बनाना, सबका कर्तव्य है। ईश्वर की इच्छा है कि हम सभी प्रेम तथा सहानुभूति से रहें कहीं बैर शत्रुता का भाव न हो। पृथ्वी के प्रत्येक भाग में रहने वाली सम्पूर्ण मनुष्य जाति से परस्पर मेल मिलाप हो ईश्वर की दया, प्रकृति की मनोरम वस्तुएँ सभी के लिए हैं। स्वधीन हो या पराधीन हो, तुम सब भाई हो, तुम्हारी जड़ एक है। तुम सब एक ईश्वरीय नियम के अनुसार चलते हो।

वैरभाव से हम अपने इर्द गिर्द विषाद, शोक, हिंसा, द्वेष, अभिमान, लोभ, दम्भ, ईर्षा का दूषित वातावरण उत्पन्न करते हैं। हमारे दूषित संकल्प विषैले परमाणु खींचते हैं। हमारी दुर्भावनाओं का विष भरा प्रभाव समस्त वायुमंडल में विस्तीर्ण होकर सर्वत्र कलह, ईर्षा और वैर उत्पन्न करता है। हमारे प्रेमी मित्र भी पास आते हिचकते हैं। वायु में दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। वह परमाणुओं को एक स्थान से लेकर इधर उधर बिखेरता है। यही आन्तरिक भावों को कल्पनों (Thought waves) द्वारा इधर उधर पहुँचाता है। अशुद्ध हृदय से दूषित परिमाणु निकल कर वाता वरण को विकार-मय बना देता है।

प्राणिमात्रि के प्रति प्रेम करो, भाई बहिन, परिजन, पड़ोसी पथिक जो भी मिले उसी पर सहानुभूति की वर्षा

करो। सबके साथ मित्रता और शान्तिपूर्ण व्यवहार करो। सबका समान रूप से आदर करो। स्वयं अज्ञानी बनकर अन्यों का सम्मान करो। प्रतिशोध की भावना को मन में कदापि प्रवेश न करने दो। सबमें अपनी आत्मा को समझ कर पवित्र भाव से प्रेम करते रहो।

छब्बीसवीं सम्पदाः—

वर्ण, जाति, कुल विद्या रूप आदिका अभिमान न करना

स्वार्थ एवं अहंकार ही अनाचार का मूल है। अभिमानी, व्यक्ति मिथ्या गर्व में लिप्त होकर अनेक पाप करता है। उसकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा छा जाता है कि उसे नीर क्षीर विवेक नहीं हो पाता।

अभिमान एक नशा है, जिसका सरूर मनुष्य को अंधा बना देता है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि साधारण व्यक्ति भी अफ़सरी की कुर्सी पर बैठ कर कुछ का कुछ हो जाता है। ऐसे संकेतों में अभिमान की ही निन्दा की जाती है।

जिस दिन दैवी सम्पदाओं को हम जीवन में प्रत्यक्ष रूप से उतारने लगेंगे उन्हीं में मानव की महत्ता समझेंगे उसी दिन रूढ़ियों से मुक्त होकर हम मानव—संस्कृति का पुनः निर्माण कर सकेंगे। उसी दिन मानवता के शुभ्र प्रकाश में आज केवल नाममात्र का 'मानव' न रह कर वास्तविक अर्थों में सच्चा मनुष्य बन सकेगा और यह संसार स्वर्गधाम बने बिना न रह सकेगा। उसमें [illegible] हृदय और मस्तिष्क का समन्वय होगा।

———

मुद्रक—पं० रामचन्द्र भार्गव, रामनारायन प्रेस मथुरा।